प्रस्तावना

महर्षि की यह जीवनि प्रारम्भ में आर्यसमाज के इतिहास के द्वितीय खण्डरूप में लिखी गई थी। अब उसे पृथक् प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, इससे समय की एक बड़ी आवश्यकता पूर्ण होगी।

इस जीवनि के मुद्रित होने के समय मैं अस्वस्थ ही रहा हूँ, इसके प्रूफ देखने तथा मुद्रण के निरीक्षण का बोझ चि० धीरेन्द्रकुमार पर रहा है। अन्तिम दो परिच्छेद उन्हीं द्वारा संगृहीत हुए हैं। उन परिच्छेदों से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है।

इन्द्र

विषय-सूची

गुरुकुल कांगड़ी

पहला परिच्छेद

जन्म और वैराग्य

काठियावाड़ प्रान्त में मौरवी राज्य के टंकारा नामक छोटे ग्राम में अम्बाशंकर नाम का एक औदीच्य ब्राह्मण रहता था। १८८१ विक्रमी के पौष मास में उसके यहां एक बालक ने जन्म लिया। बालक का नाम मूलशंकर रखा गया। सन्यास लेने पर इसी मूलशंकर का नाम दयानन्द हुआ। अम्बाशंकर के यहां औदीच्य ब्राह्मण होने पर भी भिक्षावृत्ति नहीं थी, लेन-देन का व्यवहार होता था, और रियासत की ओर से जमादारी भी प्राप्त थी, जो तहसीलदारी के बराबर थी।

इस प्रकार एक पुराने ढंग के सामान्य घर में दयानन्द का जन्म हुआ। यह जानने का कोई भी उपाय नहीं है कि दयानन्द के माता-पिता किस स्वभाव के थे। यह भी नहीं जाना जा सकता कि बालक मूलशंकर पर प्रभाव डालने वाले गुरुओं में से कोई ऐसा भी था, जिसे 'असाधारण' कह सकें। प्रारम्भिक जीवन की घटनाओं के बारे में हमें जो कुछ भी पता चलता है, स्वामी दयानन्द का अपना कथन ही उसका साधन है, दूसरा कोई

नहीं। गुजरातियों में सन्तान-प्रेम बहुत अधिक होता है। परमहंस दयानन्द डरा करते थे कि 'कहीं मेरा परिचय पाकर सम्बन्धी लोग न घेर बैठें।' इस डर से वह अपने जीवन के प्रारम्भिक भाग का अधिक परिचय नहीं दिया करते थे। यदि उनके परिवार और शैशवावस्था के वृत्तान्त जानने का कोई साधन होता तो निःसन्देह हमें कई मनोरञ्जक बातें जानने का अवसर मिलता। संसार में आकस्मिक कुछ भी नहीं है। जिन घटनाओं को हम आकस्मिक कहते हैं, उन्हें समझने की शक्ति नहीं होती या साधन नहीं होते। शक्ति या साधन के अभाव से बाधित होकर हम अपने अज्ञान को 'आकस्मिक' शब्द के आवरण में छिपाने का यत्न करते हैं। दयानन्द के चित्त में जो जो विचार-तरंगें उत्पन्न हुईं, जो-जो क्रान्तियां खड़ी हुईं, वह आकस्मिक नहीं थीं, तथापि हमें यह मान लेना चाहिए कि उनके कारणों पर पूरा प्रकाश डालने के साधनों का अभाव है। हम नहीं जानते कि मूलशंकर के प्रारम्भिक गुरु कौन थे, और न हमें यही ज्ञात है कि उसके खेल के साथी किस श्रेणी के थे? यह जानने का कोई उपाय नहीं है कि दयानन्द में जो दृढ़ता और निर्भयता थी, वह माता की ओर से प्राप्त हुई थी या पिता की ओर से? अस्तु। जो नहीं जाना जा सकता, उसे छोड़ कर हम उसकी ओर दृष्टि डालते हैं जो जाना जा सकता है।

आठवें वर्ष में मूलशंकर का यज्ञोपवीत संस्कार किया गया, और गायत्री, सन्ध्या, रुद्री आदि कण्ठस्थ कराये गये। प्रतीत होता है कि मूलशंकर की स्मरण-शक्ति प्रारम्भ से ही

अच्छी थी। वह स्मरण-शक्ति प्रचार के दिनों में दयानन्द को प्रतिपक्षियों के लिये असह्य बना देती थी। प्रचार के कार्य में कई पंडितों की अपेक्षा वह ऋषि की अधिक सहायता करती थी। मूल शंकर के पिता स्वभाव में कुछ रूखे और कड़े प्रतीत होते हैं। सम्भव है, रियासत की ओर से उन्हें तहसीलदारी का कार्य सौंपा ; जिसके प्रभाव से उनके स्वभाव में उग्रता आगई हो। उधर मूलशंकर की माता प्रेममयी प्रतीत होती हैं। वह बच्चे से वैसा ही लाड़ करती थीं, जैसा लाड़ प्रायः मातायें किया करती हैं। मूलशंकर के अन्य सम्बन्धियों के विषय में हम इतना ही जानते हैं कि उस का एक चचा था जो बहुत स्नेह करता था, और अपनी छोटी बहिन से भी बालक का बहुत प्रेम था।

एक ब्राह्मण के बालक को जैसी प्रारम्भिक शिक्षा मिलनी चाहिए, वह मूलशंकर को प्राप्त होती रही। १४ वर्ष की आयु तक वह यजुर्वेद संहिता कण्ठस्थ कर चुका था, व्याकरण में भी उसका प्रवेश हो गया था। इतना पढ़-लिख लेने पर मूलशंकर के गुरुओं ने यह सम्मति बनाई कि अब वह इस योग्य हो गया है कि कुलक्रमागत धार्मिक कृत्यों में भी भाग लेने लगे। १८९४ विक्रमी की माघ वदी १४ को शिवरात्रि का व्रत था। शायद ही कोई पुराने ढङ्ग का हिन्दू घराना होगा, जहां यह व्रत न माना जाता हो। शिवरात्रि की रात को शिव का अर्चन होता है और लंघन करना पड़ता है। अन्न और नींद—दोनों का इकट्ठा ही लंघन अधिक पुण्यजनक समझा जाता है। अनुभवी लोग जानते हैं कि बालकों के लिए इनमें से एक चीज का लंघन भी

सम्भव नहीं है; फिर जब दोनों का यत्न किया जाय तो कैसा डरावना बन जाता है। मूलशंकर के सामने जब शिवरात्रि का व्रत रखने का प्रस्ताव किया गया, तब वह पहले राजी नहीं हुआ। कोई खास लाभ दिखाई दिये बिना कोई बालक भूख और नींद से लड़ने को तैयार नहीं होता। इन दो शत्रुओं से युद्ध करना तो जवानों और बूढ़ों के लिए भी दुष्कर है — मूलशंकर तो अभी १४ साल का विद्यार्थी था। माता ने बालक की अनिच्छा में दो एक युक्तियां देकर सहायता की। 'लड़का अभी छोटा है, इसे दिन में चार बार खाने की आदत है, यह कैसे भूखा रहेगा? रात को यह अंधेरे से पहले ही सो जाता है, रात भर कैसे जागेगा?' हम कल्पना कर सकते हैं कि माता ने प्रेमवश होकर ऐसी ही युक्तियां दी होंगी।

तब पिता ने बालक की कल्पना-शक्ति को अपना सहायक बनाने का यत्न किया। शिव का माहात्म्य सुनाया, शिवरात्रि की पुराणों में गाई हुई महिमा बताई और स्वर्ग के सुन्दर दृश्य खेंच कर कोमल प्रतिभा को उत्तेजित करने का यत्न किया। यत्न में सफलता हुई। मूलशंकर शिवरात्रि का व्रत रखने के लिये तय्यार हो गया। नियत समय पर पुजारी और गृहस्थ लोग मन्दिर में पहुंच कर पूजा आदि कार्यों में लग गये। मूलशंकर अपने पिता के साथ बैठा हुआ सब कुछ देख और सुन रहा था। उसका हृदय दिन में सुनी हुई कहानियों से पूर्ण था, विश्वास और श्रद्धा का अंकुर उत्पन्न

हो गया था, आशा और सम्भावना से प्रेरित होकर वह व्रत का पूरा पुण्य लूटने के लिये तैयार हो बैठा था।

पूजन हो गया। पुजारी और गृहस्थ लोग जागरण के लिये बैठ गये। धीरे-धीरे आंखें मुँदने लगीं, सिर झुकने लगे, लोग एक दूसरे के कन्धे या छाती पर सिर धरकर लुढ़कने लगे। कुछ ही घण्टों में मन्दिर में सन्नाटा हो गया और जो लोग रात भर जग कर पुण्य लूटने का संकल्प किये बैठे थे, वे निद्रा देवी की सुखमयी गोद का आनन्द लेने लगे। सब सो गए — केवल एक भक्त जागता रहा। वह भक्त बालक मूलशंकर था। उसकी दृष्टि बराबर शिवलिंग पर गड़ी हुई थी। वह उस अद्भुत शक्ति-सम्पन्न देवता की ओर चावभरी नजर से देख रहा था। देखता क्या है कि मन्दिर में सन्नाटा पाकर चूहे बिलों से निकल आये हैं; मूर्ति के इर्द गिर्द चावल आदि के जो दाने पड़े हैं, उन्हें खा रहे हैं, और बीच-बीच में ऊपर भी चढ़ जाते हैं। मूलशंकर ने सोचा कि जो महादेव बड़े-बड़े दानवों के व्यतिक्रम को नहीं सह सकता और त्रिशूल लेकर उनका संहार करता है, वह इन मूसों को सिर पर चढ़ने से तो अवश्य रोकेगा। और कुछ नहीं तो सिर हिला कर ही उन्हें भगा देगा, परन्तु उसने आश्चर्य और विस्मय से देखा कि वह पत्थर पत्थर ही रहा, हिला जुला नहीं। तब क्या यह पत्थर ही वह शिव है, जो कैलाश पर निवास करता है; जिसमें संसार का संहार करने की शक्ति है, जिसके त्रिशूल की ज्योति से दानवों

के कलेजे कांप जाते हैं? वह कोई और ही शिव होगा — इसमें और उसमें अवश्य भेद है। ये सब विचार मूलशंकर के, तीव्र प्रतिभा से संस्कृत मन में उठने लगे। वह दिन में शिव-माहात्म्य सुन चुका था, उसे वह याद आने लगा, और जो कुछ देखा उसकी रोशनी में सुना हुआ महात्म्य निर्मूल प्रतीत होने लगा।

चिन्तित मूलशंकर ने शंका निवृत्त करने के लिए पिता को जगाया। पिता के पास प्रतिभाशाली पुत्र के गहरे प्रश्नों का उत्तर कहां था? वह जिज्ञासु की जिज्ञासा को तृप्त न कर सका। मूलशंकर निरुत्साहित होकर मन्दिर से घर चला आया और प्रेममयी मां से अपनी भूख की शिकायत की। 'मैं तो पहले ही कहती थी कि तू भूखा न रह सकेगा' — इत्यादि बहुत सी बातें माता ने कही होंगी। माता ने पुत्र को पेट भर कर खिला दिया और बिस्तर पर सुला दिया।

यह घटना मूलशंकर के जीवन में मौलिक परिवर्तन उत्पन्न करने का कारण हुई। मूर्ति-पूजा पर से उसकी श्रद्धा उठ गई। कई लोग आशंका किया करते हैं कि इतनी छोटी सी बात और वह भी इतनी छोटी सी अवस्था में — इतना भारी परिणाम कैसे उत्पन्न कर सकती थी? अनुभव से देखा गया है कि ऐसी छोटी बातें छोटी अवस्था में ही इतना प्रभाव उत्पन्न करती हैं। उस समय बालक की बुद्धि बड़ी नर्म होती है। उस पर छोटा सा भी आघात प्रतिक्रिया को उत्पन्न कर देता है। बड़ी अवस्था में बुद्धि कठोर हो जाती है, प्रतिभा

अनुभवों के बोझ से दब जाती है, और बहुत सी घटनाएं जो बालक के हृदय में नई होने के कारण उत्तेजना उत्पन्न करती हैं, प्रौढ़ के हृदय में बार-बार देखी हुई होने के कारण कुछ भी प्रभाव उत्पन्न नहीं करतीं। इस घटना के पीछे मूर्तिपूजा से मूलशंकर की श्रद्धा उठ गई। उसने चचा और माता की सिफारिश पर पिता से पूजापाठ के कार्यों से छुट्टी ले ली और पठन-पाठन में जी लगा दिया। इस समय दो ऐसी घटनायें हुईं, जिन्होंने मूलशंकर के स्वच्छ दर्पण के समान हृदय पर स्थायी प्रतिबिम्ब छोड़ दिया। उन घटनाओं का वर्णन चरित-नायक की अपनी भाषा में ही सुनाना उत्तम होगा। ऋषि ने आत्म-चरित में उनका इसप्रकार वर्णन किया है — "मेरी १६ बरस की अवस्था के पीछे मेरी १४ बरस की बहिन थी, उसको हैजा हुआ, जिसका वृत्तान्त यों है। एक रात जबकि हम एक मित्र के घर नाच देखने गए हुए थे, तब अचानक नौकर ने आकर खबर दी कि उसे हैजा हो गया। हम सब तत्काल वहां से आए। वैद्य बुलाए गए, औषधि की, मगर कुछ फायदा न हुआ। चार घण्टों में उसका शरीर छूट गया। मैं उसके बिछौने के पास दीवार से आसरा लेकर खड़ा था। जन्म से लेकर इस समय तक मैंने पहिली बार मनुष्य को मरते देखा था। इससे मेरे दिल को बड़ा कष्ट हुआ और मुझे बहुत डर लगा, और मारे डर के सोचने लगा कि सारे मनुष्य इसी प्रकार मरेंगे, और ऐसे ही मैं भी मर जाऊंगा। सोच-विचार में पड़ गया कि जितने

जीव संसार में हैं उनमें से एक भी न बचेगा, इससे कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे जन्म-मरण रूपी दुःख से यह जीव छूटे और मुक्त हो। अर्थात् इस समय मेरे चित्त में वैराग्य की जड़ जम गई।"

सब लोग रोने लगे, परन्तु वैराग्य की लहर में बहते हुए मूलशंकर की आंख से आंसू न निकले। बालक मूलशंकर रोने की चिन्ता में नहीं था, वह सदा के लिये रोने से बचने का उपाय ढूंढ रहा था। इस घटना से मूलशंकर के हृदय में वैराग्य का अंकुर उत्पन्न हो गया।

दूसरी घटना का चरित-नायक ने इस प्रकार वर्णन किया है—"जब मेरी अवस्था १६ वर्ष की हुई तब मुझ से अत्यन्त प्रेम करने वाले जो बड़े धर्मात्मा तथा विद्वान् मेरे चचा थे, उनको हैजे ने आ घेरा। मरते समय उन्होंने मुझे पास बुलाया, लोग उनकी नाड़ी देखने लगे, मैं भी पास ही बैठा हुआ था, मेरी ओर देखते ही उनकी आंखों से आंसू बहने लगे। मुझे भी उससमय बहुत रोना आया, यहां तक कि रोते रोते मेरी आंखें फूल गईं। इतना रोना मुझे पहले कभी न आया था। उस दिन मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं भी चाचाजी के सदृश एक दिन मरने वाला हूँ।" तपे हुए लोहे पर चोट लगी। मूलशंकर का हृदय बहिन की मृत्यु के दृश्य से पहले ही नम हो चुका था, इस दूसरी चोट ने उसे पूरी तरह वैराग्य की ओर झुका दिया।

शिवलिंग पर चूहों को कूदता हजारों लोग देखते हैं, परन्तु उसे एक साधारण घटना समझकर नजर अन्दाज कर जाते हैं।

बहिनें और सम्बन्धी किसके नहीं मरते ? परन्तु वैराग्य सब को नहीं होता। छोटी सी घटना से इतना बड़ा परिणाम निकालना हरेक बुद्धि के लिये सम्भव नहीं है, और असाधारण बुद्धि के लिए भी सदा छोटी बात से बड़ा परिणाम निकालना असम्भव है। एक फल को गिरते देखकर पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का अनुमान सब नहीं कर सकते; पोप की सवारी न जाने कितने पादरियों ने देखी होगी, परन्तु ईसाई धर्म में सुधार की इच्छा सब के हृदय में उत्पन्न नहीं हुई। विशेष प्रतिभायें ही विन्दु से विश्व का अनुमान कर सकती हैं। परन्तु आश्चर्य यह है कि बहुत प्रचण्ड प्रतिभायें भी हरेक विषय में या हर समय एक ही प्रकार से प्रभावित नहीं होती; बुद्धदेव ने रोगी या बूढ़ों को देखकर अमर होने का यत्न आरम्भ कर दिया परन्तु बहुत सी भौतिक घटनायें देखकर भी वैज्ञानिक परीक्षण आरम्भ नहीं किये। न्यूटन ने छोटी सी बात से विज्ञान के बड़े बड़े सिद्धान्त निकाल लिये परन्तु बूढ़ों या मरतों को देखकर वैराग्यवान् नहीं हुए। यह विचित्रता पूर्व के संस्कारों को सिद्ध करती है। पूर्व-संस्कार और अद्भुत प्रतिभा यह दोनों मिलकर संसार में आश्चर्यजनक कार्य कर सकते हैं। भगवान् के अभीष्ट बड़े बड़े कार्य इन्हीं दो शक्तियों के मेल से हो सकते हैं। मूलशंकर में भी इन दोनों का समावेश था।

मूलशंकर के हृदय में यह विचार उत्पन्न होने लगा कि 'मुझे भी कभी मरना पड़ेगा। क्या इससे किसी प्रकार बच सकता हूँ ?" वह विद्वानों और वृद्धों से अमर होने के उपाय

पूछने लगा। जब उसके माता-पिता को यह पता लगा तो वह उसे बांधने के लिये विवाह कर देने का संकल्प दृढ़ करने लगे। विचारों का द्वन्द्व युद्ध होने लगा। मूलशंकर ने इस कारागार से बचने के लिये कभी काशीजी जाने का प्रस्ताव किया और कभी पड़ोस में विद्याभ्यास समाप्त करने की बात उठाई। उसके माता-पिता वैराग्य से डरते थे, इस कारण उनकी ओर से विवाह की शीघ्रता होने लगी। ऐसी दशाओं में माता-पिता अपनी अधीरता से प्रायः अपना काम बिगाड़ लिया करते हैं। वह छूटने का यत्न करने वाली सन्तान को यथाशीघ्र बांधने का यत्न करते हैं। यह अधीरता प्रायः दुःखान्त सिद्ध होती है। मूलशंकर के माता-पिता ने भी अपनी अधीरता से बिगड़ते काम को शीघ्र से शीघ्र बिगाड़ दिया।

दूसरा परिच्छेद

अमृत की तलाश

मूलशंकर के जीवन में यह समय विषम परीक्षा का था। वह एक पहाड़ की ऐसी चोटी पर खड़ा था, जिसके एक ओर नीचे उतरने की शाही सड़क बनी हुई थी, और दूसरी ओर, जिस चोटी पर वह खड़ा था, उससे भी अधिक ऊंची

चोटियां दिखाई दे रही थीं। बीहड़ जंगल था, कंटीली पगडण्डियां थीं, और नुकीले पत्थर थे। शाही सड़क पर होकर नीचे उतर आना बहुत सुगम था, परन्तु दूसरी ओर जाना जान को खतरे में डालना था। सरल मार्ग मृत्यु-लोक को जाता है, उस पर अनगिनत प्राणी बड़ी सरलता से चले जा रहे हैं। दुर्गम मार्ग कहां का है? क्या वह अमर-लोक का मार्ग है?—कह नहीं सकते। कई लोग उस मार्ग पर चलना आरम्भ करके ऐसी उलझनों में फंसे कि न इधर के ही रहे न उधर के ही हुए। बहुत से लोग बीहड़ जंगल में कुछ कदम चल कर यह कहते हुए लौट आये, कि 'बस, जाने दो, यह सब ढोंग है' राजमार्ग का उद्देश्य निश्चित है, दूसरी ओर जाना अन्धेरे में कूदने के समान है। विश्वासी जीव कहते हैं कि दूसरी ओर की चोटियों पर अमर-लोक है, परन्तु वह किसी ने देखा नहीं। उद्देश्य संदिग्ध—मार्ग विकट। क्या इससे अधिक विषम समस्या भी हो सकती है?

परन्तु मूलशंकर को इस विषम दशा में अधिक भटकना नहीं पड़ा। उसने इस प्रकार विचार किया "एक ओर राजमार्ग है, वह मृत्यु का रास्ता है। यह निश्चित है। वह मार्ग नीचे की ओर जाता है, यह भी निश्चित है। इस कारण वह हेय है। दूसरी ओर अमरता की सम्भावना है। नाश के निश्चय से बचाव की सम्भावना बहुत अच्छी है। यह विचार कर मूलशंकर ने निश्चित मृत्यु की ओर ले जाने वाले राजमार्ग का एकदम त्याग कर दिया और सम्भावित अमर पद की तलाश

के लिए कमर कस ली। विवाह का झंझट देख कर उसने समझ लिया कि इस संसार का तिलिस्मी द्वार खुल गया है। यह तिलिस्मी द्वार हरेक युवा और युवती को अपनी ओर बड़े वेग से खेंचता है। जहां द्वार के अन्दर पांव धरा कि पीछे के किवाड़ स्वयं ही बन्द हो जाते हैं। पीछे लौटने के लिए सीधा रास्ता बिल्कुल बन्द हो जाता है। दयानन्द ने देखा कि द्वार खुल गया है। उसमें एक पग रखने की देर है। द्वार बन्द होते ही अमरलोक एक हल्का सा सपना रह जायगा — पैर जंजीरों में बंध जायंगे।

अमृत के प्यासे मूलशंकर ने, प्रेममय घर और सरल राजमार्ग को लात मार कर २१ वर्ष की आयु में बीहड़ बन का रास्ता लिया। वह ज्येष्ठ मास की एक सांझ को घर से भाग खड़ा हुआ।

मूलशंकर १९०२ विक्रमी के ज्येष्ठ मास में घर से बाहर हुआ, और १९१७ विक्रमी के कार्तिक मास में दण्डीजी के पास मथुरा में पहुँचा। इस बीच के १५ वर्षों में उसने एक सच्चे जिज्ञासु का जीवन व्यतीत किया। घर से सम्बन्ध तोड़ दिया। घर छोड़ने के कुछ मास बाद केवल एक बार सिद्धपुर के मेले में एक वैरागी से पुत्र का समाचार पाकर मूलशंकर के पिता ने उसे आ पकड़ा था। जब पिता ने कई सिपाहियों के साथ आकर पकड़ लिया तब पिता के चरणों में सिर झुकाने के सिवा क्या चारा था? पिता सिपाहियों के पहरे में रखकर मूलशंकर को घर की ओर वापिस ले चले, परन्तु जिसे धुन समाई

थी, वह अब कैद में फंसने वाला न था। रात के समय सिपाहियों को सोते देख मूलशंकर फिर भाग निकला। दूसरा सारा दिन उसने एक बड़े पेड़ पर छिप कर बिताया। पिता ऐसे बेमुरव्बत पुत्र से निराश होकर घर वापिस चले गये, और मूलशंकर ने अपना रास्ता लिया। इसके पीछे मूलशंकर का घर वालों से कभी साक्षात्कार नहीं हुआ।

मूलशंकर को एक ही धुन थी कि मृत्यु से छूटने का उपाय जाना जाय। उसे बताया गया था कि मृत्यु से छूटने का उपाय 'योग' है। मूलशंकर योगी की तलाश में शहर, गांव और जंगल में भ्रमण करने लगा। पहले पहल तो नया होने के कारण उसे ठग साधुओं ने खूब लूटा। ठग ने रेशमी वस्त्र धरा लिये, परन्तु धीरे-धीरे कुछ विवेक होता गया, और वह जिज्ञासु ठगों और सन्तों में भेद करने लगा। घर से भागने पर पहला काम मूलशंकर ने यह किया था कि सामले नामक ग्राम में एक ब्रह्मचारी की प्रेरणा से दीक्षा लेकर अपना नाम 'शुद्धचेतन ब्रह्मचारी' रखा। बहुत समय तक जिज्ञासु ने ब्रह्मचारी रह कर भ्रमण किया परन्तु ब्रह्मचारी को उस समय गुजरात में सन्यासियों की भांति बना-बनाया भोजन नहीं मिलता था, हाथ से बनाना पड़ता था। इससे शुद्धचेतन के पठन पाठन में बहुत विघ्न होता था। उसने कई सन्यासियों से सन्यास लेने का यत्न किया परन्तु थोड़ी आयु देख कर वह लोग संकोच करते रहे। नर्मदा नदी के तट पर घूमते हुए उन्हें पूर्णानन्द सरस्वती नाम के विद्वान साधु के दर्शन करने का

अवसर मिला। उनसे भी शुद्धचेतन ने सन्यास देने की प्रार्थना की। पहले तो उन्होंने कुछ संकोच किया परन्तु और साधुओं की सिफारिश आने पर सन्यास देना स्वीकार कर लिया। पूर्णानन्द सरस्वती से सन्यास लेकर शुद्धचेतन स्वामी दयानन्द सरस्वती बन गया।

घर से निकल कर कुछ समय तक स्वामी दयानन्द ने गुजरात में ही भ्रमण किया, वहां से बड़ौदा होते हुए चेतन मठ होकर नर्मदा के तट पर चिरकाल तक भिन्न-भिन्न स्थानों में निवास किया। नर्मदा तट से आबू ठहर कर सं० १६१२ के कुम्भ पर स्वामी दयानन्द हरिद्वार आये और वहां के मठों और महन्तों की माया का पहली वार दिग्दर्शन किया। हरिद्वार से आप हिमालय की ओर चल दिये और सच्चे योगी की तलाश में कठिन से कठिन चोटियों पर चढ़ कर, गुफाओं में घुस कर और घाटियां पार करके सच्चे जिज्ञासु होने का परिचय दिया।

इस भ्रमण में दयानन्द ने कई सच्चे और झूठे योगियों के दर्शन किये। झूठे योगियों से उन्हें घृणा उत्पन्न हो जाती थी, और सच्चे योगियों से वह कुछ न कुछ सीख ही लिया करते थे। चाणोद कल्याणी में वास करते हुए आपका योगानन्द नाम के एक योगी से परिचय हुआ। देर तक स्वामी ने उनसे योग की क्रियायें सीखीं। अहमदाबाद में दो और योगियों से उन्हें योगविद्या सीखने का अवसर मिला। इस प्रकार मिले हुए अवसरों से जिज्ञासु ने पूरा लाभ उठाया।

हरिद्वार से टिहरी राज्य की ओर जाते हुए स्वामीजी को तन्त्र ग्रन्थ देखने का अवसर मिला। उन ग्रन्थों को देख कर आपके चित्त में इतनी घृणा हुई कि वह फिर अनेक नई व्याख्यायें सुनकर भी दूर नहीं हुई। टिहरी से विद्या और योग की धुन में मस्त स्वामी ने केदारघाट, रुद्रप्रयाग, सिद्धाश्रम आदि का भ्रमण करते हुए मठों और मन्दिरों की दुर्दशा को अच्छी तरह देखा। तुँगनाथ की चोटी पर चढ़ते हुए उन्हें आशा थी कि ऊपर कुछ अच्छा दृश्य देखने को मिलेगा; वहां पहुँच कर भी देखा तो वैसा ही मन्दिर, वैसे ही पुजारी — सब लीला मैदान जैसी ही थी। गुप्त-काशी का दौरा लगा कर श्री दयानन्द सरस्वती ओखी मठ में पहुंचे। ओखी मठ हिमालय का बड़ा प्रसिद्ध मठ है। वहां की गुफाओं में जिज्ञासु और सच्चे महात्माओं की बहुत तलाश की, परन्तु वहां भी चरस और सुल्फे के धुएं से सब कुछ आच्छन्न ही दिखाई दिया।

यहां के एक महन्त ने स्वामीजी से बातचीत करके यह संकल्प किया कि उन्हें अपना मुख्य चेला बनाकर उत्तराधिकारी बनाये। ऐसा भव्य और पठित शिष्य उसे कहां मिलता। उसने अपना भाव दयानन्द के सामने प्रकाशित किया और यह भी बताया कि मठ के साथ द्रव्य की राशि भी कुछ कम नहीं है। दयानन्द ने उत्तर दिया कि 'यदि मुझे धन की अभिलाषा होती तो मैं अपने बाप की सम्पत्ति को, जो तुम्हारे इस माल और दौलत से कहीं बढ़कर थी,

न छोड़ता।, फिर भी दयानन्द ने कहा कि 'जिस उद्देश्य से मैंने घर छोड़ा, और सांसारिक ऐश्वर्य से मुंह मोड़ा, न तुम उसके लिये यत्न कर रहे हो, और न तुम्हें उसका ज्ञान है। फिर तुम्हारे पास मेरा रहना किस प्रकार सम्भव है।' यह सुनकर महन्त ने पूछा कि 'वह कौनसी वस्तु है जिसकी तुम्हें खोज है और तुम इतना परिश्रम उठा रहे हो ?' दयानन्द ने उत्तर दिया कि 'मैं सत्य योग-विद्या और मोक्ष की खोज में हूं और जब तक यह प्राप्त न होंगे, तब तक बराबर देशवासियों की सेवा करता रहूँगा।'

मठ के महन्त के पास धन था, ऐश्वर्य था, परन्तु न सत्य था, न योग था और न मोक्ष का उपाय था — इस कारण वह जिज्ञासु दयानन्द को न बांध सका। ओखी मठ से जोशी मठ होते हुए आप बदरीनारायण गये। आपने सुन रखा था कि बदरीनारायण के आस-पास योगी रहा करते हैं। बदरीनारायण को योगियों से बिल्कुल शून्य पाकर योग के अभिलाषी दयानन्द ने आसपास की चोटियों और गुफाओं में खोज करने का संकल्प किया। चारों ओर बर्फ पड़ी हुई थी। नदियों का पानी नुकीले पत्थरों में से होकर बहता हुआ रास्तों को रोक रहा था। दयानन्द ने इन कठिनाइयों की पर्वाह न करते हुए खोज जारी रखी। घूमते घूमते आप अलकनन्दा नदी के किनारे पहुंचे और उसे पार करने के लिये पानी में घुस गये। इसी नदी में किसी किसी ठिकाने घुटने तक जल था, और कहीं कहीं गहराई बहुत अधिक थी। चौड़ाई कोई १० हाथ के लगभग होगी। पानी

बर्फ़ के समान ठंडा था, और बीच-बीच में नोकदार पत्थर और बर्फ़ के टुकड़े भी बिखरे हुए थे। शरीर पर कपड़ा बहुत हल्का था, और पांव बिल्कुल नंगे थे। स्वामी दयानन्द की दशा बहुत ही शोजनीय होगई। पानी के अन्दर कुछ समय के लिए तो वह बिल्कुल मूर्छित से हो गये, परन्तु धैर्य से अपने आपको बचाये रखा। किसी प्रकार पार तो हुए पर एक ओर सर्दी, दूसरी ओर भूख। पांव पत्थरों से छिल गये थे, और लहू जारी हो गया था। आगे जाने की हिम्मत न रही — परन्तु वहां ठहरकर रात बिताने में भी मृत्यु का सामना था। उस समय परमात्मा की कृपा से भक्त को सहायता मिली। दो पहाड़ी राही ऊपर आ निकले; यद्यपि वह पहाड़ी दयानन्द को साथ न ले जा सके, तो भी कुछ ढारस बंध गया। थोड़ी देर सुस्ता कर स्वामी जी उठ खड़े हुए, और वसुधा तीर्थ पर कुछ विश्राम करके बदरीनारायण को लौट गये।

बदरीनारायण के आसपास योगी के दर्शन करने की अभिलाषा में निराश होकर जिज्ञासु ने स्थल की ओर मुंह मोड़ा। रामपुर, द्रोण सागर और मुरादाबाद होते हुए आप गढ़मुक्तेश्वर पहुँच गये। गंगा के किनारे घूम रहे थे। प्रवाह में बहता हुआ एक मुर्दा उन्हें दिखाई दिया। दयानन्द ने हठ-योग प्रदीपिका आदि में शरीर के आभ्यन्तर अंगों के सम्बन्ध में बहुत कुछ पढ़ रखा था। उसके सत्यासत्य निर्णय का उचित अवसर जानकर आप पानी में कूद पड़े और मुर्दे को किनारे पर खेंच लिया। लाश किनारे पर रख कर चाकू से

चीर फाड़ की तो उन ग्रंथों में लिखे हुए शरीर-वर्णन को बहुत अशुद्ध पाया। असत्य से भरे हुए ग्रन्थों का बोझ उठाने से कोई लाभ न देख कर दयानन्द ने उन सब को फाड़ कर गंगा-प्रवाह के अर्पण कर दिया।

गंगा-तट का भ्रमण करके स्वामीजी दक्षिण की ओर जा निकले और बहुत दिनों तक नर्मदा के तट पर घूमते रहे। वहां बड़े-बड़े घने जंगल हैं। एक जंगल में आपका एक बड़े भालू से सामना हो गया। भालू को देखकर वह डरे नहीं, प्रत्युत अपना सोंटा उठाकर उसकी ओर को बढ़ाया। सोंटे से डरकर चिघाड़ता हुआ वह भालू जंगल में भाग गया। एक बार घने जंगल में घूमते घूमते आपको रात हो गई। अंधेरे में कहीं ठहरने का स्थान ढूंढते ढूंढते जंगल में कुछ कुटियां दिखाई दीं। पास जाने पर कोई जागता हुआ प्राणी न मिला। तब रात भर आपने एक वृक्ष पर बैठकर गुजारी। प्रातःकाल जब ग्रामवासियों ने एक सन्यासी को देखा तो रात के कष्ट के लिये बहुत क्षमा मांगी और उचित आदर-सत्कार किया।

नर्मदा के तट पर दयानन्द ने लगभग तीन वर्ष भ्रमण किया। भ्रमण में आपने सुना कि मथुरा में एक योगी और विद्वान् दण्डी रहते हैं। योग और विद्या के अभिलाषी ने यह समाचार सुनते ही मथुरा की ओर मुंह मोड़ा और कार्तिक सुदी २ सं० १९७१ तदनुसार १४ नवम्बर १८६० के दिन मथुरा में स्वामी विरजानन्द जी का दरवाजा जा खटखटाया।

पन्द्रह वर्षों तक जिज्ञासु दयानन्द ने पहाड़ों और मैदानों

को नाप डाला, इतने शारीरिक कष्ट सहे और तपश्चर्या की—यह सब किस लिये ? सत्य-योग और मोक्ष की प्राप्ति के लिये। परन्तु न हिमालय की सर्दी में दिल की आग बुझी और न गंगा व नर्मदा के जलों ने ज्वाला को शान्त किया। अब जिज्ञासु दण्डी स्वामी के द्वार पर विद्या के स्रोत में हृदय का ताप बुझाने पहुँचता है—चलो पाठक ! देखें कि उसे कहां तक सफलता प्राप्त होती है।

तीसरा परिच्छेद

विद्या के स्रोत में स्नान

यह स्वामी विरजानन्द जी कौन हैं ? पंजाब में कर्तारपुर के समीप गंगापुर नाम का एक ग्राम था, उसमें नारायणदत्त नाम का सारस्वत ब्राह्मण रहता था। दयानन्द के गुरु श्रीविरजानन्द दण्डी ने उसी के घर जन्म लिया था। बचपन से ही बालक पर आपत्तियों का आक्रमण आरम्भ हुआ। ५ वर्ष की आयु में चेचक ने चाम की आंखें शक्तिहीन कर दीं और १२वें वर्ष में बालक के माता-पिता होनहार बच्चे को अनाथ छोड़कर परलोक सिधार गये। बालक के पालन-पोषण का बोझ बड़े भाई के कन्धों पर पड़ा। बड़ा भाई साधारण दुनियादार भाइयों की भांति नासमझ था। वह एक अन्धे और अतएव अनुपयोगी भाई की पेट-पालना में कोई विशेष लाभ नहीं देखता था। भाई और भावज की कृपा से तंग आकर शीघ्र ही बालक को घर छोड़ना पड़ा।

घर से भागकर प्रतिभाशाली युवक ऋषिकेश और हरिद्वार पहुँचा और वर्षों तक विद्याध्ययन तथा तपश्चर्या द्वारा अपनी आत्मा को संस्कृत करता रहा। हरिद्वार में ही स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती की दया से उसे सन्यास मिला। सन्यासी विरजानन्द विद्या की तलाश में हरिद्वार, कनखल, काशी, गया आदि में चिरकाल तक घूमते रहे और विद्वानों से व्याकरण तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। अमृत के प्यासे ऋषि दयानन्द के गुरु बनने का अधिकार उसी तपस्वी को हो सकता था, जिसने एक उद्देश्य के लिये तपस्या की हो, किसी उत्तम पदार्थ की खोज में कोने कोने छान मारे हों। इस दृष्टि से देखें तो स्वामी विरजानन्द जी ऋषि के गुरु बनने के पूर्णतया अधिकारी थे।

विद्याध्ययन कर लेने पर दण्डीजी ने विद्यार्थियों को पढ़ाना आरम्भ किया। उनके यश का विस्तार चारों ओर होने लगा; विशेषकर व्याकरण में उनका पाण्डित्य बहुत ऊंचे दर्जे का समझा जाता था। उनके पाण्डित्य और मधुर श्लोक-गान से प्रसन्न होकर अलवर के राजा ने कुछ दिनों तक उन्हें अपने यहां रखा। राजा की प्रार्थना पर दण्डीजी यह शर्त करके अलवर गये थे कि प्रतिदिन राजा ३ घण्टे तक अध्ययन किया करेगा। विलासी राजा अपने प्रण को निभा न सका, परन्तु सन्यासी ने अपना प्रण निभाया। जिस दिन राजा पढ़ने नहीं आया, उससे अगले दिन दण्डी का आसन अलवर से उठ गया।

कुछ समय रजवाड़ों में बिताकर स्वा० विरजानन्द जी ने मथुरा में अपना आसन जमाया। व्याकरण पढ़ने की

इच्छा रखने वाले विद्यार्थी दूर देशों से — यहां तक कि काशी से भी — दण्डीजी के पास आते थे। व्याकरण में दण्डी जी का पाण्डित्य अपूर्व होगया था। इस समय उनके जीवन में एक विशेष परिवर्तन करने वाली घटना घटित हुई। पड़ौस में एक दक्षिणी पण्डित रहता था। वह प्रतिदिन मूल अष्टाध्यायी का पाठ किया करता था। दण्डीजी उस समय तक सिद्धान्त कौमुदी, मनोरमा और शेखर को ही व्याकरण का आदि और अन्त समझते थे। मूल अष्टाध्यायी का पाठ सुनकर मानों उनकी आंखें खुल गईं। उन्हें प्रतीत हुआ कि व्याकरण का ऋषि-निर्णीत क्रम कुछ और ही है। अष्टाध्यायी के सूत्र-क्रम को देखते ही उनके हृदय में धारणा हो गई कि कौमुदीकार का बनाया हुआ क्रम अस्वाभाविक है और अष्टाध्यायी के महत्व को कम करने वाला है। यह धारणा होते ही दण्डीजी ने दीक्षित के ग्रन्थों का और उनके साथ ही अन्य सब अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थों का त्याग कर दिया। जनश्रुति है कि उनका यमुना में प्रवाह कर दिया। अष्टाध्यायी का क्रम दण्डी जी को इतना पसन्द आया कि उन्होंने अपने शिष्यों के पास जितने अर्वाचीन ग्रन्थ थे वे सब फिकवा या जलवा दिये। अष्टाध्यायी और महाभाष्य इन दो को हृदय के आसन पर बिठा लिया।

क्रिया-प्रतिक्रिया का सिद्धान्त संसार में सभी जगह पाया जाता है। पानी एक ओर को बह रहा है। सामने पहाड़ की भारी चट्टान आजाती है। पानी उल्टे पांव

भागता है। उसके उल्टे भागने का वेग आगे बढ़ने के वेग के अनुपात से होगा। यदि पानी धीमी गति से आगे बढ़ रहा था तो धीमी चाल से ही पीछे को लौटेगा, परन्तु यदि जल का प्रवाह वेगवान् था तो उल्टी ठोकर भी जोर की लगेगी। दण्डीजी के विचार-प्रवाह में भी जोर की ठोकर लगी। वह कौमुदी, मनोरमा और शेखर के प्रवाह में बड़े वेग से बहे जा रहे थे। अष्टाध्यायी का मूल सूत्र-क्रम सुनकर और उसका सरल सौन्दर्य देखकर प्रज्ञाचक्षु की आंखें खुल गईं। उन्हें भान होने लगा कि ऋषि-कृत व्याकरण का क्रम कौमुदी के घड़े हुए क्रम से बहुत उत्कृष्ट है। इतना उत्तम होते हुए भी सूत्र-क्रम गुम क्यों हो गया? व्याकरण का पठन-पाठन अष्टाध्यायी के क्रम से क्यों नहीं होता? कारण यही प्रतीत होता था कि भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी बना कर सूत्र-क्रम को पीछे फेंक दिया। इससे दण्डीजी का सारा असन्तोष भट्टोजिदीक्षित पर केन्द्रित होगया। अष्टाध्यायी और महाभाष्य से उनका प्रेम ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता था, भट्टोजिदीक्षित से त्यों-त्यों उन्हें घृणा होती जाती थी।

धीरे-धीरे उनके हृदय में यह निश्चय-सा हो गया कि जब तक कौमुदी और उससे सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों का प्रचार नहीं रुक जाता तब तक व्याकरण की ऋषि-कृत पद्धति का उद्धार नहीं हो सकता। यह विचार दण्डीजी के मन में समा गया, उनके दिल पर सवार हो गया। यही विचार दिन का चिन्तन और रात का सपना हो गया। एक बार

जयपुर के राजा रामसिंह ने दण्डीजी को दरबार में बुलाकर अपने यशस्वी होने का उपाय पूछा। ऋषि-कृत ग्रन्थों के भक्त दण्डीजी ने उत्तर में यह आदेश किया कि एक बड़ी सभा करके देशभर के विद्वानों को एकत्र करो। सभा में इस विषय पर शास्त्रार्थ हो कि व्याकरण का ऋषि-कृत क्रम अच्छा है या कौमुदी का ? दण्डीजी ने कहा कि मैं उस सभा में सिद्ध करके दिखा दूंगा कि ऋषि-कृत क्रम ठीक है और कौमुदी आदि ग्रन्थ अशुद्धियों से भरपूर हैं। दूसरे एक अवसर पर मथुरा के कलेक्टर मि० पोस्टली दण्डीजी से मिलने आये। मि० पोस्टली ने सभ्यता के तौर पर पूछा कि 'आप क्या चाहते हैं, जो हम कर सकें ?' दण्डीजी ने उत्तर दिया कि 'यदि आप हमारी इच्छा पूरी किया चाहते हैं तो भट्टोजि दीक्षित के सब ग्रन्थों को इकट्ठा करके जलवा दें।' यह भी प्रसिद्ध है कि दण्डीजी दीक्षित के ग्रन्थों पर शिष्यों के हाथों से जूते लगवाया करते थे।

क्या यह उचित था ? अष्टाध्यायी या कौमुदी के संबन्ध में स्वतन्त्र सम्मति रखना दण्डीजी के लिये सर्वथा उचित था। यह उनका अधिकार था। ग्रन्थों की उपयोगिता तथा अनुपयोगिता के विषय में स्वतन्त्र सम्मति रखने का विद्वानों को पूरा अधिकार है। हम यह भी नहीं कह सकते कि उन की सम्मति निर्मूल थी। अष्टाध्यायी की पद्धति का निर्माण पाणिनि मुनि ने किया है। सूत्रों का क्रम अष्टाध्यायी का जीवन है। यदि क्रम की उपेक्षा कर दी जाय तो सूत्र व्यर्थ

हैं। अनुवृत्ति असम्भव हो जाती है, 'विप्रतिषेधे परं कार्यं' बिल्कुल व्यर्थ हो जाता है और 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' का कुछ बल ही नहीं रहता। अष्टाध्यायी के सूत्रों का इतना लघु-काय होना क्रम पर ही आश्रित है। उसका सौन्दर्य, उसका गौरव, बहुत कुछ क्रम पर अवलम्बित है। क्रम को छोड़ कर यदि सूत्रों को कार्य में लाया जाय, तो अनुवृत्ति के लिये स्मृति पर बोझ डालना पड़ता है, 'परं कार्यं' और 'असिद्धि' का तो अनुमान मात्र लगाया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि जो आदमी संस्कृत व्याकरण का विद्वान् बनना चाहे, वह यदि सिद्धान्तकौमुदी को साद्यन्त पढ़ जाय तो भी सूत्रक्रम से परिचित हुए बिना वह सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगा। अष्टाध्यायी और उसके सूत्रों के क्रम का अटूट सम्बन्ध है।

मुनि विरजानन्द ने देखा कि लोग सिद्धान्त-कौमुदी को पढ़ कर सूत्रक्रम की उपेक्षा करते हैं। भट्टोजिदीक्षित के देखने में सरल परन्तु वस्तुतः दुर्गम ग्रन्थ ने ऋषि कृत व्याकरण का लोप कर दिया है। उनकी अन्तरात्मा इससे खिन्न होकर प्रचलित पद्धति के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए खड़ी हो गई। विद्रोह के समय प्रायः सीमा का उल्लंघन हो जाता है। दण्डी जी के क्षोभ ने भी जब उग्र रूप धारण किया तब मर्यादा का अतिक्रमण कर दिया, इसमें सन्देह नहीं। ग्रन्थ को नदी में बहाने से कभी उसका लोप नहीं हुआ और न कभी जूतों या पांव के तले रोंदने से उसका प्रचार रुका है। परिणाम प्रायः

उल्टा ही होता है। आज भारतभूमि में सिद्धान्त-कौमुदी की छपी हुई प्रतियां दण्डीजी के समय की अपेक्षा बहुत अधिक हैं; परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि दण्डीजी का यत्न व्यर्थ गया। जिस सत्य का अनुभव उन्होंने किया और अपने शिष्यों को कराया, उसे देश के एक बड़े भाग ने अंगीकार कर लिया है। आज सूत्रक्रम पर श्रद्धा रखने वाले विद्वानों की संख्या और मूल अष्टाध्यायी की प्रकाशित प्रतियों की संख्या भी दण्डीजी के समय से बहुत अधिक है। सत्य ने अपना प्रभाव पैदा किया है, उसकी सहायता में यदि कहीं सीमा का उल्लंघन हो गया था, तो वह फल का महत्त्व देखते हुए अब विस्मरण करने योग्य है। जहां एक ओर उसका अनुकरण बिल्कुल त्याज्य है, वहां दूसरी ओर बारम्बार उसे दोहरा कर शिकायत करना बुद्धिमत्ता में शामिल नहीं है।

अस्तु। ऐसे दण्डी विरजानन्द जी थे, जिनके द्वार पर कार्तिक सुदी २ सं० १९१७ (१४ नवम्बर १८६०) के दिन स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जाकर आवाज दी। परिचय हो जाने पर दण्डीजी ने पूछा कि 'क्या कुछ व्याकरण पढ़ा है ?' दयानन्द ने उत्तर दिया कि 'सारस्वत पढ़ा हूँ'। इस पर आज्ञा हुई कि पहले सब अनार्ष ग्रंथ यमुना में बहा आओ, तब आर्ष ग्रन्थ पढ़ने के अधिकारी हो सकोगे। दयानन्द ने आज्ञा का पालन किया और योग्य गुरु के चरणों में बैठकर विद्यामृत-पान का यत्न आरम्भ किया।

स्वामीजी का विद्यार्थी-जीवन अनुकरणीय था। प्रातः

काल उठ कर नित्य क्रिया से निवृत्त होकर पहले गुरु के लिये नदी से जल लाते थे, फिर अपने सन्ध्योपासन के पीछे पढ़ने में लग जाते थे। प्रातः काल कुछ चने चबा लेते थे, जो उन्हें *दुर्गा खत्री की कृपा से प्राप्त होते थे।* मथुरा के बहुत से विद्यार्थियों के भोजन का प्रबन्ध बाबा अमरलाल जोशी की ओर से था, स्वामी जी के भोजन का प्रबन्ध भी वहीं पर था। रात्रि में भी सोने से पहले वह कुछ न कुछ अभ्यास किया करते थे, जिसके लिए तेल का मासिक खर्च ।) ला० गोवर्धन सर्राफ से प्राप्त होता था। इसीप्रकार उदार महानुभावों की सहायता से आवश्यकतायें पूरी हो जाती थीं और शिष्य को गुरु-सेवा करते हुए विद्याध्ययन करने का खुला अवसर मिलता था।

दण्डीजी का स्वभाव उग्र था। कभी कभी बहुत नाराज हो जाते थे। शिष्यों के हाथों पर लाठी भी जमा देते थे। एक बार स्वामीजी की भी वारी आ गई। कहते हैं कि लाठी की उस चोट का निशान स्वामीजी के हाथ पर मरण पर्यन्त बना रहा, जिसे देख कर वह गुरु के उपकारों का स्मरण किया करते थे। एक बार छोटे से अपराध पर ड्योढ़ी बन्द कर दी गई तब योग्य शिष्य ने दो हितैषियों से सिफारिश कराई। सिफारिश से सन्तुष्ट होकर गुरु ने शिष्य को क्षमा कर दिया।

स्वामी दयानन्द का जीवन पूरे यति का जीवन था। जिस दिन से वह जिज्ञासु बने, उस दिन से मन वाणी और कर्म से ब्रह्मचारी रहने का कठोर व्रत धारण किया। विद्यार्थी जीवन में दयानन्द ने पूर्ण ब्रह्मचारी रहने का

उद्योग किया। एक दिन की घटना है कि आप नदी के तट पर सन्ध्या कर रहे थे। ध्यान खुला तो क्या देखते हैं कि एक युवती चरणों का स्पर्श कर रही है। चरणस्पर्श भक्ति से था, परन्तु पूर्ण ब्रह्मचारी ने उतने स्त्रीस्पर्श को भी पाप समझा और कई दिनों तक एकान्त में जाकर निराहार व्रत द्वारा हृदय को शुद्ध किया।

दण्डीजी से स्वामी ने अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। इससे यह न समझना चाहिये कि आप ने गुरु से केवल ग्रन्थों की विद्या ही प्राप्त की; उस ग्रंथ विद्या से कहीं बढ़ कर वह भाव थे, जो उन्हें गुरु से प्राप्त हुए। आधुनिक या अर्वाचीन ग्रन्थों को छोड़कर प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में श्रद्धा, मूर्ति-पूजा आदि कुरीतियों से वैराग्य, और कठोर संयम — इन सबके लिये योगी दयानन्द गुरु का आभारी था।

विद्याध्ययन समाप्त हुआ। रीति के अनुसार शिष्य कुछ लौंगों की भेंट लेकर गुरु के चरणों में उपस्थित हुआ और निवेदन करने लगा कि महाराज मेरे पास और कुछ नहीं है जो भेंट करूं, इस कारण केवल आध सेर लौंग लेकर उपस्थित हुआ हूँ। गुरु ने कहा —"मैं तुझसे ऐसी चीज मांगूंगा जो तेरे पास उपस्थित है।" दयानन्द के बद्धांजलि होने पर गुरु ने आदेश किया। (बड़े दुःख की बात है कि गुरु के उस समय के शब्द यथार्थ रूप में प्राप्त नहीं होते। जीवन-चरित्र लिखने वालों ने दण्डी जी के वाक्य अपनी-अपनी रुचि के अनुसार घड़े हैं।

पं० लेखरामजी के सम्पादित किए जीवन चरित्र में जो शब्द दिए गये हैं वह बहुत कुछ स्वाभाविक हैं। यह कहा जा सकता है कि यदि दण्डीजी ने ठीक वह शब्द नहीं कहे थे तो कम से कम भावार्थ वही होगा। वहां दण्डीजी के निम्नलिखित शब्द दिये गये हैं)

"देश का उपकार करो। सत् शास्त्रों का उद्धार करो। मत-मतान्तरों की अविद्या को मिटाओ और वैदिकधर्म फैलाओ।" दयानन्द ने आदेश को अंगीकार किया। अन्त में आशीर्वाद देते हुए दण्डीजी ने और भी कहा—'मनुष्य-कृत ग्रन्थों में परमेश्वर और ऋषियों की निन्दा है और ऋषिकृत ग्रन्थों में नहीं, इस कसौटी को हाथ से न छोड़ना।'

इस अमूल्य उपदेश को शिरोधार्य करके श्री दयानन्द संन्यासी गुरू के द्वार से विदा हुए। जो वस्तु पर्वत की चोटी पर, वन की गहराई में, नदियों के प्रवाह में और महन्तों के डेरों में ढूंढी, पर न मिली, वह अमृत के प्यासे दयानन्द को मथुरापुरी में दंडी विरजानन्द के चरणों में मिली। वह वस्तु विद्या और विवेक-बुद्धि थी। उस वस्तु को पाकर, ब्रह्मचर्य के तेज से तेजस्वी ब्रह्मचारी संसार-क्षेत्र में प्रवेश करता है। पाठक! चलिये हम देखें कि वह कैसा संसार-क्षेत्र है, जिसमें उसे कार्य करना है?

चौथा परिच्छेद

खाण्डव वन

जिससमय गुरु से आशीर्वाद लेकर दयानन्द ने कार्य-क्षेत्र में पांव धरा, आर्य-जाति की दशा उससमय मुक्त कण्ठ से चिल्ला चिल्ला कर कह रही थी कि मुझे एक वैद्य की आवश्यकता है। भारत देश अज्ञान, पराधीनता, शत्रु और दुःखों के कारण सर्पों और कांटेदार झाड़ियों से भरे हुए खाण्डव-वन के समान दुर्गम और बीहड़ हो रहा था। उसे आवश्यकता थी एक अर्जुन की, जो एक ओर अरणियों की रगड़ से आग निकाल कर दावानल को प्रज्वलित करे और दूसरी ओर आग बुझाने का यत्न करने वाले देवों और असुरों के आक्रमणों का उत्तर देसके। आर्य-जाति की दुर्दशा उस समय एक सुधारक को बुला रही थी—एक ऐसे परखय्ये को बुला रही थी जो उसके पीड़ित अङ्गों पर शान्ति देने वाला हाथ रख सके। इस परिच्छेद में हम देखेंगे कि उस दुर्दशा का क्या इतिहास और क्या स्वरूप था। अगला सम्पूर्ण भाग, ऋषि दयानन्द ने उस दुर्दशा के सुधारने का जो यत्न किया, उसके अर्पण किया जायगा।

बहुत पहले—ऐतिहासिक काल से भी पहले, वेद और प्रधानतया वैदिक साहित्य केवल भारत की सीमाओं में परिमित हो चुका था। जो लोग ईरान में बसे या ग्रीस में पहुँचे वह भारतीय

आर्यों के बन्धु थे, परन्तु यह विषय यथार्थ इतिहास का होते हुए भी कल्पनात्मक है। जिस समय इतिहास के प्रकाश में दुनिया अपना मुंह उघाड़ती है, भारतवर्ष का धर्म और सामाजिक सङ्गठन और सब देशों से भिन्न ही मिलता है। ऐतिहासिक काल से पूर्व भारतवर्ष एक जुदा इकाई बन चुका था। यही कारण है कि इतिहास हमें भारतवर्ष के धार्मिक और सामाजिक परिवर्तनों का जितना व्यौरा सुनाता है, वह देश की सीमाओं से परिमित है। भारत के धार्मिक परिवर्तनों का प्रभाव सीमाओं से बाहिर बहुत ही कम पड़ता है — और बाहिर के धार्मिक परिवर्तनों का प्रभाव भारत पर तभी पड़ता है जब उन धर्मों के अनुयायी लोग विजेताओं के रूप में देश में आ जाते हैं।

भारत का धन, उसका विस्तार और उसकी अन्दरूनी भिन्नता वह सब बातें बाहिर के विजेताओं को खेंचती रही हैं। समय समय पर बाहिर की लड़ाकू जातियां सस्ता शिकार मारने के लिये इस स्वर्ण-देश पर छापा मारती रही हैं भारत पर मुख्य-मुख्य धावे ४ श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं। पहला धावा सिकन्दर का था। दूसरा धावा उत्तर की अनेक जातियों का था जो सदियों तक जारी रहा। कभी हूण, कभी सीथियन और कभी पारसीक लोग भारत को जीतने का यत्न करते रहे। तीसरा धावा इस्लाम का हुआ, जो पहले के सब धावों से जबरदस्त, सब से अधिक स्थायी और सबसे भारी असर उत्पन्न करने वाला हुआ। चौथा धावा यूरोपियन जातियों का है, जो यद्यपि बहुत पुराना नहीं है तो भी बड़ा गहरा है, बड़ा जबरदस्त है और इस्लाम से भी भयङ्कर है।

भारत के धार्मिक परिवर्तनों पर यह चारों आक्रमण बड़ा गहरा असर उत्पन्न करते रहे हैं, परन्तु इसका यह अभिप्राय न समझना चाहिये कि केवल बाहिर के प्रभाव ही भारत के धार्मिक विचारों को हिलाते रहे हैं। समय-समय पर आवश्यकता होने पर आन्तरिक प्रतिक्रिया भी उत्पन्न होती रही है। जाति की जरूरत के अनुसार बदले हुए वायुमण्डल के साथ अनुकूलता पैदा करने के लिए या बिगड़े हुए ढांचे को सुधारने के लिये ऐसे सुधारक पैदा होते रहे हैं जो बिगड़ी के बनाने का यत्न करते रहे हैं। यदि भारतवर्ष के धार्मिक परिवर्तनों का इतिहास देखा जाय, तो हमें ज्ञात होगा कि उसमें आंतरिक प्रतिक्रिया और बाह्य आक्रमण-दोनों का ही प्रभाव है।

यूनानियों के आक्रमण से पूर्व जो बड़े-बड़े धार्मिक परिवर्तन हुए, वह मुख्यतया आंतरिक प्रतिक्रिया के ही परिणाम थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों के याग-प्रधान धर्म के विरुद्ध उपनिषदों के ज्ञानवाद की प्रतिक्रिया हुई। फिर वही विकार उत्पन्न होने पर बौद्ध-धर्म प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ। यह दोनों बड़ी-बड़ी प्रतिक्रियायें बाहिर के प्रभाव से शून्य थीं। यह केवल अन्दर से उत्पन्न हुई थीं। यही कारण था कि वह सब एक ही शरीरी के अङ्गों के समान परस्पर पूर्णता उत्पन्न करती थीं। ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थ एक दूसरे के हाथ में हाथ डाल कर चलते रहे और एक ही पुरुष के आंख, कान के सदृश जीवित रहे। उपनिषदों का ऊंचा ब्रह्म-ज्ञान धीरे धीरे क्रियाहीन ईश्वर-विश्वास के रूप में परिणत हो

गया और ब्राह्मण ग्रन्थों का कर्मकांड हिंसापूर्ण यज्ञ-प्रक्रिया की पद्धतियों में तबदील होगया। उस समय महात्मा बुद्ध ने क्रियात्मकधर्म का उपदेश देते हुए प्रेम और त्याग का सन्देश सुनाया और एक सार्वभौम धर्म की नींव डाली।

बुद्ध के पीछे भारत पर सिकन्दर का आक्रमण हुआ। सिकन्दर का भारत में निवास बहुत थोड़े समय तक हुआ। उसका कोई गहरा प्रभाव दिखाई नहीं देता, तो भी हम दो बड़ी घटनाओं में उसके दृष्टान्त की छाया देख सकते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य—यत्न सिकन्दर के उदाहरण से प्रभावित हुआ था और अशोक का धर्म-साम्राज्य स्थापित करने का उद्योग भी सिकन्दर के सार्वभौम विजय के यत्न से प्रभावित हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। जैसे चन्द्रगुप्त का भारतीय साम्राज्य यूनान के अभीष्ट भारतीय साम्राज्य का उत्तर था, इसी प्रकार अशोक का धार्मिक आक्रमण यूनान की सभ्यता और संस्कृति के आक्रमण का प्रत्युत्तर था।

यही दशा हम गुप्त-काल में देखते हैं। गुप्त सम्राटों का राजनीतिक साम्राज्य हूणों और सीथियनों के आक्रमणों से देश की रक्षार्थ एक प्रकार का दुर्ग था। राजनीतिक सङ्गठन प्रायः बाहिर से आने वाली चोटों के कारण ही उत्पन्न हुआ करते हैं। गुप्त साम्राज्य उत्तर की जातियों की विजय-कामना का फल था। साथ ही पुराने ब्राह्मण-धर्म का पौराणिक-धर्म के रूप में सङ्गठन जहां एक ओर आर्य-जाति की आन्तरिक स्थिति को सूचित करने वाला

बाह्य चिन्ह था, वहां साथ ही वह उत्तर दिशा के असभ्य आक्रमणकारियों के प्रभाव से भी हीन नहीं था। पौराणिक धर्म के सङ्गठन में अन्दर की हलचल और बाहिर की क्रिया दोनों ही स्पष्ट दिखाई देती हैं।

बहुत काल पीछे, लगभग ११ वीं शताब्दि के आरम्भ में मुसलमानों का भारत पर पूरा आक्रमण प्रारम्भ होता है। इस्लाम का भारत पर तब राजनीतिक आक्रमण नहीं था। वह आक्रमण प्रधानतया धार्मिक था, राजनीतिक विजय उसका केवल आनुषंगिक फल था। इस्लाम की तलवार भारत को मुसलमान बनाने आई थी। आकर देखा तो शिकार को निर्बल पाया। छिन्न-भिन्न भारत थोड़े ही यत्न में राजनीतिक पराधीनता में आ गया। तलवार का असली उद्देश्य भारत को धार्मिक दृष्टि से विजित करना था। यह निश्चय से कहा जा सकता है कि उद्देश्य में इस्लाम को काफी सफलता प्राप्त नहीं हुई। कारण यह कि जहां भारत कई सदियों तक पराधीन रह कर भी अपनी सम्मिलित राजनीतिक शक्ति को मुसलमानों की राजनीतिक शक्ति के विरोध में खड़ा न कर सका, वहां उसने प्रारम्भ से ही अपने धामिक सङ्गठन को समयानुकूल परिवर्तित करके आत्म-रक्षा के लिये खड़ा कर दिया था।

मुसलमानों के सुदीर्घ-काल में भारत के धर्म में हमें जो उतराव चढ़ाव दिखाई देते हैं, वह दो प्रकार के हैं। एक ओर बाह्य आक्रमण को रोकने के लिये खाइयां खुद रही हैं, दूसरी ओर कई स्थानों पर एक विश्वव्यापी सिद्धान्त में इस्लाम और हिन्दू-धर्म को सम्मिलित करने के प्रयत्न हो रहे हैं। इन दोनों ही में हमें

बाहिर का असर दिखाई देता है। सती प्रथा, पर्दा, खानपान के बन्धन, जाति के कड़े विभाग, छूतछात—यह बाड़ें थीं जिनका उद्देश्य भारतीय धर्म की इस्लाम से रक्षा करना था। सदियों तक भारतीय धर्म इस्लाम के प्रभाव को रोकने के लिये चेष्टा करता रहा और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि जैसी असफलता धार्मिक दृष्टि से उसे भारत में हुई, वैसी कहीं नहीं हुई।

परन्तु जो बांध इस्लाम की गति को रोकने के लिये बन रहे थे, वह हर प्रकार से लाभदायक ही सिद्ध नहीं हुए। उन्होंने शुद्ध हवा का प्रवेश रोक दिया, उन्नति और विकास के लिये गुंजायश न छोड़ी और धर्म के बलवान् प्रवाह को ऊंचे किनारों में घेर कर काई, मच्छर और कीचड़ का घर बना दिया। शत्रु के धावे को रोकने के लिये शहर के निवासी चारों ओर खाई खोद लेते हैं, ऊंची दीवार चुन देते हैं, बाहिर जाना-आना रुक जाता है। शत्रु अन्दर न आ सके परन्तु शहर के निवासी भी बाहिर नहीं जा सकते। उन्नति रुक जाती है, खानापीना कम होजाता है, महामारी पड़जाती है। यदि कोई नगर अपनी रक्षा भी करना चाहे और महामारी से भी न मरना चाहे, तो उसके लिये एक ही मार्ग है। वह किले से निकल कर शत्रु पर जा टूटे और उसे मार भगाये। दुर्भाग्य से उस समय हिन्दू-धर्म में जान नहीं थी। वह आत्म-रक्षा में लगा रहा, इस्लाम पर प्रत्याक्रमण करने का उसने विचार नहीं किया। फल यह हुआ कि घर में महामारी पड़ गई। १९ वीं शताब्दि के मध्य में हम भारत के असली धर्म को जंजीरों से बंधा हुआ, दीवारों से घिरा हुआ और शहतीरों से दबा हुआ पाते हैं।

मुसलमान-काल के अन्तिम भाग में, अकबर की उदार धर्म नीति के प्रभाव से कुछ ऐसे भी यत्न हुए जिनका उद्देश्य धर्म के विश्वरूप को आगे रखकर हिन्दू-मुसलमान के भेद को मिटाना था। भक्त कबीर ऐसे यत्न करने वालों में से मुख्य था। कबीर के शिष्य उसके सिद्धान्त का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन करते हैं—

सब से हिलिये सब से मिलिये सब का लीजिये नाऊं।
हांजी हांजी सब से कीजिये बसे आपने गाऊं॥

भक्त कबीर के वचनों से ज्ञात होगा कि वह धर्म के व्यापक रूप में भेदों को किस प्रकार तिरोहित करना चाहता था।

कबीर के शिष्य बुल्ला साहिब ने अपने झूलने में यह कविता लिखी है:—

जहं आदि न अन्त न मध्य है रे जहं अलख निरञ्जन है मेला।
जहं वेद किते बन भेद हैरे, नहिं हिन्दू तुरक न गुरु चेला॥
जहं जीवन मरन न हानि हैरे, अगम अपार में जाय खेला।
बुल्ला दास अतीत यों बोलयारी सतगुरु सत शब्द देला॥

मारवाड़ के भक्त दरिया साहिब ने हिन्दू मुसलमान दोनों को एक ही पलड़े में डाल दिया है।

मुसल्मान हिन्दू कहा, षट दरसन रङ्क राव।
जन दरिया निज नाम बिन सब पर जम का दाव॥

दूलनदास जी अपने झूलने में कहते हैं:—

हिन्दू तुरक दुइ दीन आलम, आपनी ताकीन में।
यह भी न दूलन खूब है, करु ध्यान दशरथनन्द का॥

वही कवि सत्तनाम में वेद के विषय में कहते हैं:—

तीन लोक तो वेद बखाना। चौथ लोक का मर्म न जाना॥

भक्तराज धरनीदास जी कहते हैं:—

एक धनी धन मोरा हो।

जो धन ते जन भये धनी बहु हिन्दू तुरक कटोरा हो।

सो धन धरनी सहजहिं पावौ केवल सतगुरु के निहोरा हो॥

कबीर तथा अन्य भक्तों का यह यत्न चाहे कितना ही उत्तम था, परन्तु उसमें सफलता नहीं हुई। सफलता न होने का कारण स्पष्ट है। भक्त लोग दो ऐसे धर्मों को मिलाना चाहते थे, जिनके मिलने में दो बड़ी बड़ी रुकावटें थीं। पहिली रुकावट राजनीतिक थी। मुसलमान विजेता थे, हिन्दू विजित थे। जहां एक ओर विजेता विजित के धर्म को तुच्छ मान कर उसके साथ सन्धि करने को उद्यत नहीं होता वहां विजित जाति यदि इतिहास और आत्माभिमान रखती हो तो कभी विजेता के धर्म को स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं होती। राजनीतिक पराजय से गये हुए आत्म-सम्मान को वह धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में चौगुने हठ के साथ संभालने का यत्न करती है। कबीर और उसके साथियों की असफलता का दूसरा कारण यह हुआ कि वह ऐसे दो धर्मों को मिलाना चाहते थे, जो मौलिक रूप से भिन्न हैं, जिनकी आधार-भूत कल्पनायें ही जुदा जुदा हैं।

मिलाने के यत्न निष्फल हुए। हिन्दू-धर्म ने प्रत्याक्रमण करने का यत्न न करके आत्मरक्षा के लिये खाई पर खाई खोदी, दीवार चुनी। यहां तक कि दम घुटने लगा, उचित भोजन के अभाव से ढांचा ढीला होने लगा, अंग से अंग जुदा होगया। हारे हुए घिरे हुए, भूखे किले में सदा फूट पड़ जाया करती है। हिन्दू-धर्म

के घिरे हुए किले में भी फूट पड़ गई। परिणामतः अनगिनत मत और सम्प्रदाय उत्पन्न होगये जिनकी अधिक संख्या का अनुमान इसी से लग सकता है कि वैष्णव, शैव और शाक्त इन तीन बड़े पन्थों में से केवल वैष्णव के ही निम्नलिखित २० सम्प्रदाय थे जो एक दूसरे को झूठा मानते और कहते थे:—

(१) श्री सम्प्रदाय (२) बल्लभाचारी (३) मध्वाचारी या ब्रह्म सम्प्रदाय (४) सनकादिक सम्प्रदाय या 'नीमावत' (५) रामानन्दी या रामावत (६) राधाबल्लभी (७) नित्यानन्दी (८) कबीरपन्थी (९) खाकी (१०) मलूकदासी (११) दादू-पन्थी (१२) रमदासी (१३) सेनाई (१४) मीरोबाई (१५) सखीभाव (१६) चरणदासी (१७) हरिश्चन्द्री (१८) सधना-पन्थी (१९) माधवी (२०) वैरागी और नागे सन्यासी।

शैवों के ७ बड़े भेद थे:—

(१) सन्यासी दण्डी आदि (२) योगी (३) जंगम (४) ऊर्ध्व बाहु (५) गूदड़ (६) रूखड़ (७) कड़ालिंगी।

शाक्तिकों के बड़े भेद निम्नलिखित थे:—

(१) दक्षिणाचारी (२) वामी (३) कानचेलिये (४) करारी (५) अघोरी (६) गाणपत्य, (७) सौरपत्य (८) नानकपन्थी (९) बाबालाली (१०) प्राणनाथी (११) साध (१२) सन्तनामी (१३) शिवनारायणी (१४) शून्यवादी।

आर्यदर्पण। जून १८८० ई०

तालिका यह दिखाने के लिए उद्धृत की गई है कि १९वीं शताब्दि के मध्य में हिन्दू धर्म का ढांचा किस प्रकार

से बिगड़ चुका था। भेद बेढब बढ़ गये थे। अनाचार पूरे जोर पर था। धर्म की प्रेरिका शक्ति जाती रही थी।

भारत का प्राचीन आर्य धर्म जब इस सडांद की दशा में था तब देश पर चौथे विदेशी तूफान का आक्रमण हुआ। यूरोपियन जातियां आखेट-भूमि की टोह लगाती हुई भारत के समुद्र समीपवर्त्ती सीमाप्रान्तों पर आ पहुंची। उन्हें किस प्रकार देश में प्रवेश मिला, किस प्रकार देश की बिगड़ी हुई दशा ने उन्हें यहां आधिपत्य जमाने में सहायता दी, किस प्रकार अन्य शक्तियों को परास्त करके अंग्रेजों ने प्रभुत्व जमाने में सफलता प्राप्त की — यह सब विषय राजनैतिक इतिहास के हैं। हमें यहां यह देखना है कि यूरोपियन सफलता का प्रभाव भारत के धार्मिक विचारों पर किस प्रकार पड़ा। यूरोपियन जातियां अपने साथ दो वस्तुएं लाईं — ईसाइयत, और पाश्चात्य सभ्यता। इन दोनों का भारत पर एक साथ असर हुआ। इस्लाम तलवार के साथ आया था, वह बड़े वेग से फैला, परन्तु उसका प्रतिरोध भी उसी वेग से हुआ। ईसाइयत का प्रचार दूसरी विधि से हुआ। उस विधि में शिक्षणालय, प्रचार का संगठन और प्रलोभन — यह तीन साधन प्रधान थे। ईसाइयों ने स्कूल और कालेज खोल कर भारत के शिक्षित समाज को खोखला कर देने का यत्न किया। कुछ काल तक उस यत्न में सफलता भी हुई। ईसाइयों का प्रचार-सम्बन्धी संगठन पहिले ही बहुत बढ़िया था — भारत के अनुभव से उसमें और भी अधिक पूर्णता आगई। जो भारतवासी ईसाई बन गये, वह

चाहे किसी भी दर्जे के हों, सरकारी नौकरियों में उन्हें तरजीह दी जाने लगी। इस प्रकार ईसाई धर्म धीरे-धीरे परन्तु निश्चित रूप से देश की जड़ों में प्रवेश करने लगा।

जब तक इस्लाम का प्रचार तलवार के जोर से होता रहा, हिन्दू धर्म भी उससे बचने के लिए अपने कोट के चारों ओर खाइयां खोदता रहा, परन्तु अकबर तथा उसके दो उत्तरवर्त्ती राजाओं ने गहरे शान्त उपायों से इस्लाम की जड़ पाताल में पहुँचाने का उद्योग किया। तब ऐसे भक्तजन उत्पन्न हुए जिन्होंने हिन्दू मुसलमानों के परस्पर भेदों को दूर करके एकेश्वरवाद के झण्डे तले जाने का यत्न किया। फिर जब औरंगजेब ने शान्त नीति का परित्याग किया, तब उत्तर और दक्षिण में हिन्दू धर्म तलवार लेकर उठ खड़ा हुआ। यह स्मरण रखना चाहिये कि औरंगजेब की अनुदार धार्मिक नीति से पहिले सिख मत भी हिन्दू मुसलमानों के भेद को मिटाने का ही एक यत्न था।

ईसाइयत का प्रचार अकबर की नीति से शुरू हुआ। परिणाम भी वैसा ही हुआ। विश्वासी भारतवासियों के हृदय ने बिना किसी आशंका के ईसाइयत के प्रभावों का स्वागत किया। बड़ी प्रतिष्ठा और योग्यता रखने वाले अनेक भारतवासी, जो शायद तलवारी धर्म का सामना करने में तलवार के घाट उतरने को सहर्ष उद्यत होते, इस शान्त धावे के शिकार हुए। ईसाई काल के कुछ ही समय पीछे कबीर आदि भी जन्म लेने लगे धर्म के विश्वरूप से ईसाइयत और हिन्दूपन के भेद को खपा

देने का उद्योग बंगाल में ब्रह्मसमाज ने उठाया। यदि ब्रह्म-समाज के इतिहास को विस्तार से पढ़ें तो हमें प्रतीत होगा कि *उसके नेताओं का उद्योग ईसाइयत और हिन्दू धर्म की मध्यमा-*वस्था निकाल कर दोनों को साथ-साथ दीर्घजीवी बनाने के लिए था—हिन्दूपन को ईसाइयत की कलम लगा कर उस रगड़ को दूर करने के लिए था, जिसका शीघ्र या देर में उत्पन्न होना अवश्यम्भावी था।

शांत परन्तु गहरे और पेचदार उपायों से ईसाइयत भारत के धार्मिक दुर्ग में प्रवेश कर रही थी। वह दुर्ग बड़ी शोचनीय दशा में था। रीति और बन्धन की जो बाड़ें इस्लाम के धावे को रोकने के लिए बनाई गई थीं, वह अपनी ही वृद्धि को रोक रही थीं। चारदीवारी से घिर जाने के कारण हवा गन्दी हो गई थी, पानी सड़ गया था, अन्न-कष्ट के कारण दुर्ग के निवासियों में फूट पड़ी हुई थी। यदि संक्षेप में दुर्ग की दशा को कहना हो तो हम कहेंगे कि भारत के निजधर्म—हिन्दू धर्म—को रूढ़ि और तुच्छ भेदों के रोग लगे हुए थे। एक ओर बन्धन और रीति रिवाज का जोर, दूसरी ओर तुच्छ भेदों के कारण एकता का नाश — यह दो रोग थे, जिनसे भारत का धर्म रूपी शरीर पीड़ित होगया था। चुपचाप ईसाइयत के कीटाणु हवा और पानी के साथ उस शरीर में प्रवेश कर रहे थे। ब्रह्मसमाज ने इस दशा का अनुभव तो किया परन्तु रोकने का जो यत्न किया वह यह था कि ईसाइयत के कीटाणुओं से युक्त जल को कुछ स्वादु रूप दे दिया। इस उपचार से रोग दूर

होगा या नहीं — कीटाणुओं से युक्त जल शरीर में प्रविष्ट होने से रुकेगा या नहीं—इन प्रश्नों का उत्तर हम नहीं देंगे, क्योंकि इतिहास दे चुका है।

यह दशा थी जब दयानन्द ने गुरु से विदायगी ली। उसने इस दशा के सुधार का क्या उद्योग किया, यह अगले परिच्छेदों का विषय है।

पांचवां परिच्छेद

सुधार की प्रारम्भिक दशा

(ई० १८८३ से १८८६ तक)

यह समझना भूल है कि स्वामी दयानन्द ने गुरु के पास से आते ही सुधार का पूरा कार्यक्रम विस्तीर्ण कर दिया था। गुरु के पास से विदा होने के समय स्वामीजी के पास ये वस्तुयें थीं। (१) उनके पास संस्कृत व्याकरण और दर्शनों का पाण्डित्य था (२) अखण्ड ब्रह्मचर्य, प्रतिभा, उत्साह और व्याख्यान-शक्ति के गुण थे (३) विद्वानों साधुओं और पन्थाइयों की दशा देखकर निश्चय हो चुका था कि धर्म की दशा बिगड़ी हुई है। सुधार करने और विशुद्ध धर्म का प्रचार करने की अभिलाषा विद्यमान थी। एक सुधारक में जिन गुणों की बीज रूप से आव-

श्यकता होती है, वह स्वामी दयानन्द में विद्यमान थे। साथ ही यह भी निश्चित है कि सुधार-कार्य के यौवन में स्वामी दयानन्द के शस्त्रागार में जो जो साधन सन्नद्ध हो गये थे, अभी उनमें से कुछेक का विकास होना बाकी था। (१) अभी स्वामीजी को वेद पूर्णतया प्राप्त नहीं हुए थे। वेदों की पुस्तकों तक की खोज अभी शेष थी; उनकी व्याख्या या उनमें एकान्त भावना की अभी चर्चा तक नहीं थी। (२) विस्तृत संसार का ज्ञान संसार में भ्रमण करने पर ही प्राप्त होता है। अभी तक गृहस्थों और पुजारियों की सृष्टि में अधिक प्रवेश का अवसर न मिलने से रोग का पूरा पूरा ज्ञान भी नहीं हुआ था। (३) रोग का ज्ञान होने पर भी सुधार रूपी दवा का ठीक प्रयोग तभी हो सकता है, जब वैद्य कुछ परीक्षण कर ले। वैद्य पहले एक दवा का प्रयोग करता है, फिर उसके फल यदि सन्तोषदायक हों तो उसी को जारी रखता है अन्यथा बदल देता है। चतुर से चतुर वैद्य ठीक परीक्षण करके ही ठीक औषध पर पहुँचता है।

पहले तीन साल तक स्वामी दयानन्द ने जो सुधार का कार्य किया, वह एक प्रकार से परीक्षणात्मक था। वह उस भारी और सर्वतोगामी सुधार का प्रारम्भिक पड़ाव था, जो कुछ वर्ष पीछे भारत के विशाल कार्य को प्रकम्पित कर देने वाला था। हम इस प्रारम्भिक कार्य में भी उन सब गुणों को बीजरूप में पाते हैं, जो पीछे से वृक्ष रूप में परिणत होकर सफलता के साधन हुए; परन्तु पीछे से सुधार के कार्यक्रम में जो पूर्णता आ गई थी वह अभी नहीं दिखाई देती। सुधार रूपी चित्र की बाह्य

रेखायें तय्यार थीं, परन्तु उसमें रंग और छाया का स्थान खाली था, जिसे भरने के लिये समय और अनुभव की आवश्यकता थी।

इन प्रारम्भिक तीन सालों में स्वामीजी ने जो सुधार उपस्थित किये, उनमें से पहला और मुख्य स्थान मूर्ति-पूजा के खण्डन का है। मूर्ति-पूजा में उनका विश्वास उसी क्षण से हिल चुका था, जिस क्षण उन्होंने शिवरात्रि की अंधियारी में शिवलिंग के ऊपर से चूहे को चावल उठाते हुए देखा था। उस समय जो अश्रद्धा उत्पन्न हुई, वह सत्संग विद्याभ्यास और विचार से विरोधी विश्वास के रूप में परिणत होगई। मूर्ति-पूजाको भ्रमात्मक मानकर परमात्मा के निराकार निर्दोष अद्वितीय स्वरूप का प्रतिपादन करना स्वामी दयानन्द का प्रारम्भ से ही लक्ष्य था। सुधारकों की कसौटी ईश्वर-सम्बन्धी विश्वास है। कोई सुधारक या धर्म संस्थापक उपास्यदेव का जिस स्वरूप में प्रतिपादन करता है, उसी से उसका ऊंच नीच परखा जाता है। ईश्वर-स्वरूप-सम्बन्धी विचार धर्मों के नपैने हैं। कोई भी धर्मोपदेशक जनता में कोई भारी परिवर्तन नहीं उत्पन्न कर सकता, जब तक वह उनके मूल धार्मिक विचारों को नये रंग पर नहीं मोड़ देता। मूल धार्मिक विचारों में प्रथम स्थान ईश्वर-विश्वास का है। कई सुधारक यत्न करते हैं कि वह आम के पेड़ की पत्तियों में पैबन्द लगाकर फल को मीठा बना सकेंगे, परन्तु निश्चय है कि वे निराश होंगे। ऐसे यत्न हुए, और निष्फल हुए। जबतक तने में पैबन्द नहीं लगता तब तक फल मीठे नहीं हो सकते। स्वामी दयानन्द के हृदय में सुधारों की भावना का प्रारम्भ मूर्ति को

सत्ता में अश्रद्धा होने से हुआ था। ईश्वर-सम्बन्धी अशुद्ध विचारों की जड़ में यह पहला कुठारपात था। ज्यों ज्यों विद्या की वृद्धि होती गई ज्ञान के चक्षु खुलते गये, सद्गुरुओं से उपदेश सुनने का अवसर मिलता गया, त्यों-त्यों वही प्रारम्भिक भावना अधिकाधिक पुष्ट होती गई।

विद्याभ्यास समाप्त करने के अनन्तर स्वामी दयानन्द ने जो पहला सन्देश जनता को सुनाया वह निराकार ईश्वर की उपासना का था। मथुरा से सीधे आप आगरा गये और यमुना के किनारे भैरव के पास लाला गल्लामल रूपचन्द के बगीचे में ठहरे। वहां अन्य सदुपदेशों के साथ साथ मूर्ति पूजन का खण्डन बराबर जारी रहता था। स्वामीजी ने वहां पंचदशी की कथा प्रारम्भ की। उसकी १६वीं कारिका का उत्तरार्द्ध यह है:— 'मायां बिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः' माया में चिदात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह माया को वश में कर लेता है और ईश्वर कहाता है। कहां निराकार ब्रह्म—और कहां उसका प्रतिबिम्ब पड़ना। ईश्वर प्रतिबिम्ब मात्र है—तत्व नहीं। जिस दयानन्द ने वेदों में 'अकायमव्रणमस्नाविरं' इत्यादि शब्दों से विशेषित ब्रह्म का अध्ययन किया था, और ब्रह्म तथा ईश्वर एक ही चिदात्मा के नाम हैं—यह निर्णय किया था, उसे पञ्चदशी के ऐसे लेखों ने धक्का दिया। स्वामी दयानन्द ने उस समय से पञ्चदशी और अद्वैत के अन्य ग्रन्थों को त्याज्यों की श्रेणी में लिख लिया।

जीवन-चरितों के लेखकों ने लिखा है कि इन पहले तीन सालों में स्वामी दयानन्द वैष्णव मत का खण्डन करते थे,

और शैव मत का प्रतिपादन करते थे। उस समय, (और अब भी यही दशा है) मथुरा के आसपास वैष्णव सम्प्रदायों का बड़ा जोर था। मथुरा कृष्णजी की पुरी है। वह वैष्णवों का गढ़ है। वहां रहते हुए आपने उस अन्ध-परम्परा को देखा जो कृष्ण के नाम पर चलाई गई थी। रामानुज और वल्लभ सम्प्रदाय की लीलाओं के देखने का भी आपको अवसर मिला। भागवतकार ने योगिराज कृष्ण के चरित को कई अंशों में कैसा बिगाड़ा है, यह भी आपने भली प्रकार देखा। इस कारण उससमय स्वामीजी के हृदय में वैष्णवों के विश्वासों के प्रति बड़ा क्षोभ था। वृन्दावन की लीलायें उन्हें प्रेरित करती थीं कि वह वैष्णव मत का खण्डन करें।

आगरा से धौलपुर ठहरते हुए स्वामीजी ग्वालियर पहुँचे। वहां सींधिया की ओर से भागवत की कथा का प्रबन्ध हो चुका था। एकविद्वान् साधु आया है, यह सुनकर महाराज ने स्वामीजी को भी निमन्त्रण भेज दिया। स्वामीजी ने कहला भेजा कि भागवत की कथा से दुःख के सिवा कुछ न मिलेगा, यदि सुख चाहते हो तो गायत्री का पुरश्चरण कराओ। राजा यह सुन कर केवल हंस दिया। भागवत की कथा प्रारम्भ हो गई। उधर स्वामीजी ने संस्कृत में भागवत के खण्डन में व्याख्यान देने आरम्भ किये। स्वामीजी कुछ समय भ्रमण और उपदेश में बिताकर जयपुर पहुंचे और वहां चार मास तक रहे। यहां आप उपनिषदों की कथा करते थे, और मूर्तिपूजा का खण्डन करते थे। भागवत के खण्डन में जयपुर में आपने

एक विज्ञापन भी प्रकाशित किया, जिसमें बतलाया कि भागवत के कर्ता व्यासदेव नहीं, अपितु बोपदेव नाम का पण्डित है, जिसने श्रीकृष्ण के निष्कलंक चरित को कलंकित कर दिया है। पुष्कर के मेले में पहुँच कर स्वामीजी ने रामानुज सम्प्रदाय का खूब खण्डन किया, और कण्ठियां भी तुड़वाईं। इस प्रकार स्वामीजी मूर्तिपूजा और अन्य सब कुरीतियों के विरुद्ध जो भयंकर तूफान खड़ा करने वाले थे, उसकी पहली चोटें वैष्णवों पर पड़ीं। प्रतीत होता है कि वैष्णवों के विरोध में प्रारम्भिक काल में वह कभी-कभी शैव मत का पक्ष ले लिया करते थे। उसके विषय में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम तो यह कि अभी तक स्वामीजी का सुधार का पूरा प्रोग्राम बना नहीं था — बन रहा था। दूसरी यह बात कि स्वामीजी कहा करते थे कि 'शिव परमात्मा का नाम है, पार्वती के पति को मैं नहीं मानता।'

आपको गोरक्षा की प्रारम्भ से ही धुन थी। १८६६ ई० के मई मास में स्वामीजी अजमेर पहुँचे, और बंसीलाल जी सरिश्तेदार के यहां ठहरे। यहां आप मेजर ए. जी. डेविडसन कमिश्नर और कर्नल ब्रुक, असिस्टेंट कमिश्नर से मिले और उनके सन्मुख गोरक्षा का प्रश्न रखा। स्वामीजी ने उन्हें समझाया कि गौओं की हत्या बन्द करने से राजा और प्रजा दोनों का लाभ है। सरकारी अफसर तो सरकारी अफसर ही ठहरे हैं। असिस्टेंट कमिश्नर साहिब ने स्वामीजी को लाट साहिब के नाम एक चिट्ठी लिख दी और कह दिया कि

आप "लाट साहिब से अवश्य मिलें, जिस साहिब को आप मेरी चिट्ठी दिखायंगे, वह आप से अवश्य मिलेगा।" सरकारी अफसर का मीठा इन्कार स्वामीजी ने शान्ति से अंगीकार कर लिया। यह स्वामीजी के हृदय की शुद्धता और सादगी का सबूत है।

प्रारम्भ से अपने विचारों को प्रकट करने के लिए स्वामीजी तीन उपाय काम में लाते थे। व्याख्यान देते थे, विज्ञापन निकालते थे और शास्त्रार्थ के लिए ललकारते थे। व्याख्यान तो सभी स्थान पर देते थे; जयपुर आदि में लिखित विज्ञापन भी प्रकाशित किये। पहले-पहल आपने ग्वालियर में भागवत के विषय में वैष्णव पण्डितों को चैलेंज दिया। जीवन-चरितों में लिखा है कि सब पौराणिक पण्डित इधर-उधर खिसक गये, कोई सामने नहीं आया। फिर जयपुर में महाराज के सामने व्यास बक्षीरामजी आदि से स्वामीजी का शास्त्रार्थ हुआ। इसमें भी पौराणिक पण्डित निरुत्तर होगये। शास्त्रार्थों की बहुत धूम तो पुष्करराज में रही। यहां आप देर तक ब्रह्माजी के मन्दिर में निवास करते रहे। कभी पण्डों से, कभी ब्राह्मणों से और कभी सन्यासियों से शास्त्रार्थ की चर्चा चलती ही रहती थी। एक बार बहुत से पण्डे लट्ठ लेकर स्वामीजी पर चढ़ आये। यों तो स्वामीजी अकेले ही पर्याप्त थे, परन्तु एक सहायक भी आ पहुँचा। ब्रह्माजी के मन्दिर के पुजारी मानपुरी जी मोटा डण्डा लेकर पहुँच गये और पण्डों को भगा दिया।

अजमेर में लौट पर आपका पादरी रोबिन्सन और पादरी शूलब्रेड से ईश्वर-जीव आदि विषयों पर ३ दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा। पादरियों को निरुत्तर होना पड़ा । वह वह स्वामी जी के सुधरे हुए विचारों और वाक् चातुरी से इतने प्रसन्न हुए कि स्वामीजी को एक पत्र लिखकर दे दिया, जिसमें लिखा कि हमने जीवन भर में ऐसा संस्कृत का विद्वान् नहीं देखा । ऐसे मनुष्य संसार में कम होते हैं ।

इस प्रकार वह तीनों उपाय जिनसे एक प्रचारक को काम लेना चाहिए, प्रारम्भ से ही ऋषि दयानन्द ने अंगीकार कर लिये थे । आगे इन्हीं साधनों का विकास होता गया यहां तक कि स्वामीजी वाणी, लेख और शास्त्रार्थ — इस तीन प्रकार की युद्ध-सामग्री के पूरे अधीश्वर हो गये।

छठा परिच्छेद

सुधार की मध्यम दशा का आरम्भ

१८६७ ईस्वी के अप्रैल मास में हरिद्वार का बड़ा कुम्भ था। देश भर के साधु-सन्यासी इस मेले में एकत्र होते हैं। हिन्दू जाति की भलाई और बुराई, सुन्दरता और कुरूपता दोनों का ही स्पष्ट रूप से दिग्दर्शन करना हो, तो दस पांच दिन इस

विख्यात समारोह की सैर कर लेना पर्याप्त है। हिन्दू जाति श्रद्धामयी है। उस श्रद्धा का कुम्भ के मेले में मानों समुद्र उमड़ पड़ता है। जहां एक ओर ऐसे बूढ़े पुरुष लठिया टेक कर स्टेशन से धर्मशाला की ओर जाते दिखाई देंगे, जिनकी कमर झुक गई है, दांत मुंह को छोड़ भागे हैं, एक पांव यमपुरी की दहलीज पर धरा जा चुका है; वहां दूसरी ओर दुधमुंहे बच्चे, धूप और प्यास का कष्ट सहन करती हुई असूर्यम्पश्या हिन्दू ललनाओं की गोद में रह कर भारत की माताओं के अतुल विश्वास और तप की सूचना देते हैं। गृहस्थ लोग लाखों की संख्या में एकत्र होकर साधु सन्तों के दर्शन करते हैं, गंगा के विशुद्ध शीतल जल में स्नान करके अपने को धन्य मानते हैं और अबतक भी हिन्दू-पन के जीवित होने की सूचना देते हैं। ऐसे ही मेले भारत की आर्य जाति की मौलिक एकता को सिद्ध करते हैं। भीड़ में दृष्टि उठा कर देखिये—कहीं अनघड़ पंजाबी साफा दिखाई देता है, तो कहीं लखनऊ के शौकीन की दुपल्ली टोपी में से घुंघराले बाल दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं मद्रासी के नंगे सिर पर गोखुर से दुगनी शिखा नजर आती है, तो कहीं नाजुक गुजराती के नाटे शरीर के शिरोभाग पर लाल पगड़ी सुहाती है। सारांश यह कि भारत भर के हिन्दू निवासी एक डोरी में बन्धे हुए हैं—कुम्भ के मेले पर अविश्वासी से अविश्वासी हृदय भी इस बात पर विश्वास किये बिना न रहेगा।

यह तस्वीर का उज्वल पहलू है। अंधेरा पहलू भी कुछ कम गहरा नहीं है। छल-कपट-आलस्य तथा स्वार्थ के शरीर

बिना ढूंढे ही मिल जायंगे। भोगमय त्याग, दुराचारमय साधु-भाव और हृदय का विरोधी रूप आपको पग-पग पर दिखाई देगा। जिनके गृहस्थ नहीं है, उनके अन्तःपुर में पुत्र कलत्र, जिनकी आमदनी का कोई साधन नहीं है, उनके डेरों पर हाथी और घोड़े, और जो त्यागी कहलाते हैं उनके सन्दूकों में लाखों के तोड़े—यह सब कुछ बिना विशेष यत्न के ही दीख जायगा। सरल हृदय भक्त और भक्तिनों के विश्वास का घात करने वाले भगवा वेशधारी मठेश्वर भिन्न-भिन्न उपायों से अपने इन्द्रिय-सुख की साधना में मग्न दिखाई देते हैं। जिसे हिन्दू धर्म की गिरी हुई दशा देखनी हो, वह आंखें खोल कर एक बार हरिद्वार के कुम्भ की सैर कर आवे। जहां एक ओर कुम्भ पर एकत्र हुआ जन-समूह देश भर के हिन्दुओं की मौलिक एकता को सूचित करता है, वहां साथ ही वह हिन्दुओं की नासमझी और अन्धी श्रद्धा में एकता को भी सूचित करता है।

स्वामी दयानन्द कुम्भ-स्नान से एक मास पूर्व ही हरिद्वार पहुँच गये और उन्होंने सप्तस्रोत के पास गंगा की रेतीमें कुछ छप्पर डाल कर मध्य में पाखण्ड-खण्डनी झण्डी गाड़ दी। सप्तस्रोत में खड़े हुए युवक सुधारक के सामने जो परस्पर विरोध उपस्थित हुआ होगा, उसकी कल्पना की जा सकती है। एक ओर संसार में अनूठे हिमालय और भागीरथी का प्राकृतिक चित्र, दूसरी ओर अज्ञान और छल के मानुषिक चमत्कार—क्या यह आश्चर्य और खेद उत्पन्न करने वाला दृश्य नहीं है? सप्तस्रोत पर खड़े होकर जरा उत्तर की ओर दृष्टि उठाइये। पर्वत के

पीछे पर्वत, जंगल के ऊपर जंगल, यही क्रम बराबर चला गया है, यहां तक कि हिमालय की गगनभेदिनी चोटियां चांदी के सदृश चमकते हुए बर्फ के मुकुट में अन्तर्धान हो गईं। इस चांदी का पिघला हुआ प्रवाह, घाटियों-कन्दराओं और तलहटियों से होकर हरिद्वार के पास से गुजरता है। जल क्या—नील मणियों की छवि से प्रतिबिम्बित शुद्धतम अमृत है, जिसकी शीतलता सोने में सुगन्ध के समान है। एक ओर यह मन और तन को प्रसन्न और उन्नत करने वाला दृश्य—दूसरी ओर स्वार्थ, अज्ञान और दम्भ की लीला से बिगड़ी हुई मनुष्य प्रकृति। जिसे परमात्मा ने इतना सुन्दर बनाया है, उसे मनुष्य ने कितना बिगाड़ दिया है। जिसे मनुष्य नहीं बिगाड़ सका, वही सुन्दर है। ईश्वरीय सुन्दरता और मानवीय नीचता के दृश्य देख कर यदि युवक दयानन्द के हृदय में एक उग्र ज्वाला न भड़क उठती तो निःसन्देह वह पाषाणमय सिद्ध होता।

स्वामी दयानन्द ने मेले पर एकत्र हुए हिन्दू-समाज को देखा, और सम्पूर्ण समाज को एक ही बीमारी का शिकार पाया। क्या शैव, क्या वैष्णव, क्या सन्यासी क्या वैरागी, सब एक ही धुन में मस्त हैं, सब एक ही लीक के राही है। सुधार की प्रारम्भ-दशा में स्वामीजी ने शैवों को वैष्णवों से कुछ ऊंचा ठहराया था, कुम्भ पर देखा कि सब एक ही थैली के चट्टे बट्टे हैं। न वह पूरे ज्ञानी हैं और न यह अधिक अज्ञानी हैं। जो थोड़ा सा साम्प्रदायिक भेद हृदय में विद्यमान था, गंगा के विमल जल से वह भी धुल गया।

कुम्भ के समारोह में शास्त्रपारंगत स्वामी दयानन्द की प्रसिद्धि शीघ्र ही फैल गई। गृहस्थ और साधु लोग निडर सुधारक के तेजस्वी भाषण सुनने के लिए आने लगे। कई विद्वानों ने योग्यता की परीक्षा करके उत्सुकता को दूर किया। यहां पहले पहल स्वामी दयानन्दजी की काशी के प्रसिद्ध स्वामी विशुद्धानन्द जी से मुठभेड़ हुई। विवाद पुरुषसूक्त पर था। स्वामी विशुद्धानन्दजी ने 'ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत्' इत्यादि मन्त्र से ब्राह्मण आदि वर्णों की ब्रह्मा के मुख से उत्पत्ति बतलाई और स्वामी दयानन्दजी ने शब्दार्थ-बल से यह सिद्ध करने का यत्न किया कि इस मन्त्र में ब्राह्मण को मुख के समान कहा है, मुख से उत्पन्न नहीं कहा। काशी के दिग्गज पण्डित के साथ एक युवक साधु की ऐसी बढ़िया टक्कर का जनता पर अवश्य ही बड़ा प्रभाव हुआ होगा।

कुम्भ का मेला होगया। इस मेले में स्वामीजी के डेरे पर कई साधु और शिष्य ठहरे हुए थे। सबके लिए भोजन आदि का वहीं प्रबन्ध था। उस समय की रीति के अनुसार एक संघ के मुखिया साधु को सब प्रकार की जिस सामग्री की आवश्यकता होती थी, स्वामीजी के पास भी इस समय तक वह विद्यमान थी। मठधारियों और महन्तों की दुर्दशा देखकर स्वामीजी का विशुद्ध हृदय जल उठा। उन्हें अपनी थोड़ी सी सामग्री भी बोझल प्रतीत होने लगी। उनके हृदय ने कहा कि यदि त्यागियों की विलासिता का नाश करना है, तो पहिले स्वयं सर्व त्यागी बनना होगा। धर्म की बिगड़ी हुई दशा का अनुभव

करके उन्हें अपने शरीर पर धारण करने के थोड़े से कपड़े भी बहुत प्रतीत होने लगे। साधु की संक्षिप्त सामग्री भी कैदखाने की जंजीर प्रतीत होने लगी। गृह-त्यागी दयानन्द ने सर्व त्याग करने निश्चय कर लिया।

डेरे पर जो कुछ भी था, भिखारियों को बांट दिया गया। स्वामी दयानन्द ने एक कौपीन रख ली, शेष सब सामग्री दरिद्रों में वितीर्ण करदी। मलमल का थान और महाभाष्य का ग्रन्थ गुरूजी की सेवा में मथुरा भेज दिया। इस प्रकार सांसारिक वस्तुओं के इस हलके से बन्धन को काट कर सर्व त्यागी स्वतन्त्र दयानन्द मनुष्य जाति के बन्धनों को काटने के लिए सन्नद्ध हुआ। गङ्गा के पार, चण्डी के पर्वत के नीचे रेतीले किनारे पर कुछ समय तक तपस्या करके उन्होंने अपने आपको उस महा-युद्ध के लिए और भी अधिक तय्यार किया, जिसकी ओर भग-वान् की इच्छा उन्हें खींचे ले जा रही थी।

पाठकवृन्द! यहां सुधार की दूसरी दशा का आरम्भ होता है। सुधारक की दृष्टि अधिक विस्तृत हो गई है, रद्दे सद्दे रूढि के बन्धन टूट गये हैं और निसर्ग से ही उज्ज्वल प्रतिभा वास्तविक संसार की घटनाओं से रगड़ खाकर और भी अधिक उज्ज्वल हो उठी है।

सातवां परिच्छेद

गंगातट पर सिंह-नाद

(सन् १८६७ से १८६९ के सितम्बर मास तक)

त्यागी दयानन्द हिन्दू जाति में फैली हुई कुरीतियों का नाश करने के लिये कटिबद्ध होकर गंगा-तट पर भ्रमण करने लगे। सुधार की पहली दशा में जो दृष्टि सम्प्रदाय की रेखाओं से परिमित थी, वह इस दूसरी दशा में सम्पूर्ण आर्य (हिन्दू) जाति तक विस्तृत हो गई। इस समय स्वामी दयानन्द के प्रोग्राम में सम्पूर्ण आर्य जाति के रोगों को नष्ट करना और धर्म के स्वरूप को प्रकाशित करना था। जहां कहीं जाते थे, निम्न-लिखित आठ गप्पों का खण्डन करते थे। यह ध्यान में रखना चाहिये कि इस समय स्वामीजी प्रायः संस्कृत में ही व्याख्यान देते थे। गप्पें यह हैं—(१) अठारह पुराण (२) मूर्ति पूजा (३) शैव, शाक्त, रामानुज आदि सम्प्रदाय (४) तन्त्र ग्रन्थ, वाम मार्ग आदि (५) भंग शराब आदि सब नशे की चीजें (६) पर-स्त्री-गमन (७) चोरी (८) छल, अभिमान, झूठ आदि। वह इन आठ गप्पों का खण्डन करते थे और यह उप-देश देते थे कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य की एक ही गायत्री है। इन तीनों ही वर्णों को गायत्री के पाठ का समान अधिकार है और

उनमें से कोई भी वर्ण ऐसा नहीं जो यज्ञोपवीत का अधिकारी न हो।

इससमय के कार्यक्रम पर ध्यान देने से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं:—

(१) इस समय स्वामीजी का कार्यक्रम खण्डनात्मक था। आर्य जाति की दुर्दशा देखकर स्वामीजी का हृदय रो रहा था। उनका परोपकारी हृदय अपने सजातीयों की दशा देख कर शान्त नहीं रह सकता था। दुःख का मूल बुराइयों में था, इस कारण आपने बुराइयों को तर्क और ज्ञान के दावानल से जला कर राख कर देने का निश्चय किया। आपके जीवन का यह खण्डन-युग कहा जा सकता है।

(२) ऊपर दिये हुए कार्यक्रम को देखने से यह भी स्पष्ट होगा कि स्वामीजी की दृष्टि जहां सम्प्रदायों की सीमा से बाहिर जा चुकी थी, वहां आर्य जाति की सीमाओं का उल्लंघन नहीं कर सकी थी। इसका कारण यह नहीं था कि संसार-मात्र से उनके हृदय में स्नेह का भाव नहीं था या वह केवल आर्य जाति को ही धर्म की अधिकारिणी समझते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि किसी भी सुधारक को लीजिये, वह सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रचारक होता हुआ भी अपने वातावरण के अन्दर ही रह सकता है। ईसा को एक सार्वभौम सुधारक कहा जा सकता है; परन्तु बाइबिल में यहूदियों के पादरियों के दुर्व्यवहारों का खण्डन है, भारत-

वर्ष के ब्राह्मणों या बौद्धों में प्रचलित रीतियों का खण्डन नहीं। चाहे मनुष्य कितना ही बड़ा हो, वह सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रचार अपने दृष्टि-क्षेत्र में आये हुए विषय की अपेक्षा से ही कर सकता है। उसकी बुद्धि वहीं तक फैल सकती है, जहां तक मनुष्य की बुद्धि का फैलना सम्भव है। इस समय तक स्वामीजी के दृष्टिक्षेत्र में आर्यजाति की आन्तरिक दशा ही आई थी। सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रयोग करके स्वामीजी ने उस बिगड़ी हुई दशा के कारणों पर विचार किया, उनका अनुसन्धान किया। जो उपाय उन्हें प्रतीत हुआ, उसका प्रयोग करने का यत्न किया। वह इस समय प्रधानतया खण्डनात्मक था।

कौपीन-मात्र धारी स्वामी दयानन्द हरिद्वार से ऋषिकेश और लंढौरा होते हुए कर्णवास पहुंचे। हरिद्वार के कुम्भ-पर्व पर प्राप्त किया हुआ पाण्डित्य का यश स्वामीजी के आगे-आगे जाता था। कुम्भ पर प्रायः सारे देश के साधु और यात्री एकत्र होते हैं। उन लोगों ने युवक सन्यासी के तेजस्वी भाषणों को और उनकी ख्याति को सुना था। वह लोग स्वामीजी के यश को उनके पहुंचने से पूर्व ही भिन्न-भिन्न स्थानों पर पहुँचा चुके थे। जहां स्वामीजी जाते, शीघ्र ही चारों ओर धूम मच जाती कि एक त्यागी सन्यासी आये हैं, जो धाराप्रवाह संस्कृत बोलते हैं, जिन्होंने हरिद्वार में स्वामी विशुद्धानन्दजी से टक्कर ली थी, जो पुराण और मूर्तिपूजा आदि का खण्डन करते हैं। स्वामीजी गंगा के तट पर रेती में

विश्राम करते । रात को बालू का सिराहना बनाकर सो रहते। दिन में गप्पों का खण्डन करते और सदुपदेश देते। शीघ्र ही चारों ओर चर्चा फ़ैल गई। गृहस्थ लोग स्वामीजी के उपदेशों को सुनते, पहले आश्चर्यित होते और फिर सन्देह करने लगते। सन्देह-निवृत्ति के लिए अपने गुरु-ब्राह्मणों के पास जाते। वहां स्वामी दयानन्द के लिए गालियां तो मिलतीं, परन्तु सन्देह का समाधान न मिलता। पण्डित लोग स्वामी जी के सम्मुख आकर प्रश्नोत्तर करने का साहस न करते।

अनूपशहर में पं० अम्बादत्त वैद्य और पं० हीरावल्लभ पर्वती स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने आये। शास्त्रार्थ का उद्देश्य मूर्त्तिपूजा का मण्डन करना था, परन्तु फल उल्टा निकला। पं० अम्बादत्त ने स्वयं निरुत्तर होकर एक दूसरे पण्डित की ओर निर्देश कर दिया और पर्वतीजी ने पराजित होकर अपनी पहिले की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार सामने रखी हुई शालिग्राम की मूर्त्ति को गंगा में प्रवाहित कर दिया। फिर क्या था, प्रजा ने मूर्त्तियां गंगा-प्रवाह के अर्पण कर दीं, कण्ठियां तोड़ डालीं — मानों अज्ञान को बहा दिया और बन्धनों को काट डाला। क्षत्रियों और वैश्यों के समूह आकर स्वामीजी से गायत्री और यज्ञोपवीत का प्रसाद लेने लगे। गंगातट पर अखण्ड यज्ञ होने लगा और सदियों से अधिकार-वञ्चित भारतीय प्रजा अपने धार्मिक अधिकारों को प्राप्त करके स्वामी दयानन्द का जय-जयकार करने लगी।

कुछ दिनों तक इसी प्रकार भ्रमण करके स्वामीजी

२० मई सन् १८६८ के दिन फिर कर्णवास आये और अपनी कुटिया में आसन जमाया। स्वामीजी अत्यन्त निर्भय थे। यदि वह निर्भय न होते तो सुधार के काम में हाथ ही न डालते। सुधार का कार्य शेरों का है, गीदड़ों का नहीं। जो मनुष्य लोक-निन्दा से, किसी पागल के आक्रमण से या किसी शक्तिशाली के शास्त्र से डरता है, वह सदियों से जमी हुई कुरीति रूप काई को उखाड़ने का प्रयत्न नहीं कर सकता। कुरीति और रूढ़ि के कंटीले जंगलों को तर्क और सुबुद्धि के कुठार से वही काट सकता है जिसके हृदय में वाणी या वाण का भय नहीं है। स्वामी दयानन्द ने सदियों से प्रचलित अन्धविश्वासों और रूढ़ियों के खण्डन का बीड़ा उठाया था, उन्होंने कुछेक महन्तों और पुरोहितों और टीकाधारियों द्वारा कुचले हुए जनता के अधिकारों को फिर से जगाने और अधिकारियों को सौंपने का संकल्प किया था। यदि ऋषि शेर न होता, तो भारत भर के सम्प्रदायाचार्यों को न ललकार सकता।

कर्णवास में स्वामीजी की निर्भयता का एक दृष्टान्त संघटित हुआ। बरेली के रईस राव कर्णसिंह गंगास्नान के लिए कर्णवास आये। कर्णसिंह वृन्दावन के वैष्णवाचार्य रंगाचार्य के शिष्य थे और तिलक छाप लगाते थे। स्वामीजी की प्रसिद्धि सुनकर वह उनके स्थान पर पहुंचे। कर्णसिंह की प्रकृति बहुत उग्र थी। उसने सुना था कि स्वामीजी तिलक-छाप का खण्डन करते हैं, इसलिए पहिले से ही उसके

क्रोध का पारा चढ़ा हुआ था। स्वामीजी ने आदरपूर्वक पास के आसन पर बैठने के लिए कहा। कर्णसिंह ने उत्तर दिया कि 'हम वहीं बैठेंगे, जहां तुम बैठे हो।' इस पर स्वामीजी ने जिस शीतलपाटी पर वह बैठे थे, उसका कुछ भाग खाली कर दिया। यहां तो झगड़ा न बढ़ा। झगड़ा पैदा करने पर तुला हुआ कर्णसिंह निराश हुआ, तब नया ढंग प्रारम्भ हुआ। राव साहिब बोले कि 'तुम गंगाजी को नहीं मानते?' स्वामीजी ने कहा कि 'जितनी गंगाजी हैं उतनी मानते हैं।'

कर्णसिंह — 'कितनी?'

स्वामीजी — 'हम लोगों का तो गंगाजी कमण्डलु ही हैं।'

इस पर कर्णसिंह ने गंगास्तुति पर कुछ श्लोक पढ़े।

स्वामीजी—"यह सब तुम्हारी गप्प है। वह केवल पीने का पानी है, उससे मोक्ष नहीं हो सकता, मोक्ष तो केवल कर्मों से होता है, तुमको पोपों ने बहकाया है।" फिर स्वामीजी ने उसके माथे पर तिलक छाप देखकर कहा—

'तुमने क्षत्रिय होकर मस्तक पर यह भिखारियों का चिन्ह क्यों धारण किया है?'

कर्णसिंह—'हमारे स्वामी के सामने आपसे बातचीत भी न होगी, तुम उनके सामने कीड़े के तुल्य हो, तुझ-से उनके जूते उठाते हैं'।

स्वामीजी ने हंसकर उत्तर दिया 'कि अपने गुरु को शास्त्रार्थ के लिये बुलाओ, यदि उनमें आने की सामर्थ्य न हो तो हम वहां चलें।'

इस पर क्रोध में आकर कर्णसिंह बेतुकी कहने लगा और स्वामीजी को धमकाने लगा। धमकी में आने वाले व्यक्ति दूसरे ही होते हैं। स्वामीजी ने धमकी के उत्तर में चक्रांकित सम्प्रदाय का बड़े बल से खण्डन किया और अन्त में कहा कि 'तुम क्षत्रिय हो, जो रामलीला में लौंडों का स्वांग भरवा, महापुरुषों की नकल उतरवा उनको नचवाते हो; अगर तुम्हारी बहन-बेटी को कोई नचवावे तो तुम्हें कैसा बुरा लगे ?' यह सुनकर कर्णसिंह की आंखें लाल हो गईं, नथुने फड़कने लगे और हाथ तलवार की मुट्ठी पर गया। कर्णसिंह का एक पहलवान आगे बढ़कर स्वामीजी पर हाथ डालने लगा। ब्रह्मचारी दयानन्द ने एक झटके से पहलवान को दूर फेंक दिया और सिंह के सदृश गरजकर कर्णसिंह से कहा—

'अरे धूर्त ! यदि लड़ना है तो जयपुर और धौलपुर के राजाओं से जा लड़ो और यदि शास्त्रार्थ करना है तो अपने गुरु रंगाचार्य को वृन्दावन से बुलवा लो।'

इतने में वहां उपस्थित जनता में से ठाकुर कृष्णसिंह आदि राजपूत लट्ठ लेकर खड़े हो गये और कर्णसिंह को ललकारने लगे। कायर कर्णसिंह अपने पहलवानों को साथ लेकर वहां से चला गया।

बहुत से लोगों ने स्वामीजी से प्रार्थना की कि इस घटना की सूचना पुलिस में की जाय। स्वामीजी ने स्मरणीय उत्तर दिया। आपने कहा कि 'यदि वह अपने क्षत्रियत्व को पूरा न कर सका तो हम क्यों अपने सन्यास धर्म से पतित होवें, सन्तोष

करना ही हमारा परम धर्म है।'

इसके पीछे भी कर्णसिंह कई नीच उपायों से अपना क्रोध शान्त करने का यत्न करता रहा। स्वामीजी को मारने के लिये उसने कुछ बदमाश भेजे। योगी का हुंकार सुन वह इस प्रकार बेहोश होकर भागे कि गिरकर मरते मरते बचे। कर्णसिंह ने कुछ वैरागियों को भी स्वामीजी के मारने के लिए तैयार करना चाहा, पर किसी की हिम्मत न पड़ी। आखिर बात बढ़ गई, स्वामीजी के भक्त राजपूतों ने लट्ठ लेकर कर्णसिंह के बंगले को घेर लिया और निकलकर लड़ने के लिये ललकारा। कर्णसिंह के श्वसुर ठाकुर मोहनसिंह ने भी उसे समझाया कि यदि खैर चाहते हो तो यहां से भाग जाओ। कायर कर्णसिंह दूसरे रोज कर्णवास से भाग गया, और घर जाकर पागल हो गया। मणि और कांच की प्रतिद्वन्द्विता में मणि ने मणिता प्रकट करदी और कांच ने कांचता। शेर की खाल ओढ़कर सियार केसरी नहीं बन सकता; जो हृदय से शेर है, वही असली शेर है। स्वामी दयानन्द हृदय के शेर थे।

कर्णवास से आसन उठा स्वामी दयानन्द चाशनी, ताहरपुर और अहार होते हुए अनूपशहर पहुँचे। जहां गये, वहां मूर्ति-पूजा, मृतक-श्राद्ध और फलित ज्योतिष आदि का खण्डन किया।

अनूपशहर में स्वामीजी लगभग चार मास तक रहे। जिन लोगों ने उस समय उन्हें देखा था, वह देर तक भी उस मूर्ति को न भूल सके। लम्बा कद, सुडौल शरीर, चौड़ी छाती, सुन्दर

और प्रभावशाली चेहरा, शेर की आंख को झपका देने वाली आंखें, उन्नत और विशाल मस्तक,—यह बनावट जिसने एक बार देखली वह उसे कैसे भूल सकेगा ? उस समय एक कौपीन ही स्वामीजी का परिच्छद था। सर्दी हो या गर्मी—आंधी हो या पानी—यही परिच्छद शरीर की रक्षा के लिये काफी था। प्रातः-काल ब्राह्ममुहूर्त में उठकर नित्यकर्म से निवृत्त होकर स्वामीजी समाधिस्थ हो जाते और घण्टों तक ध्यानावस्थित रहते। उसके पश्चात् एकत्र हुई प्रजा को धर्म का उपदेश देते। जो भिक्षा आ जाती, उसी से निर्वाह कर लेते। उपदेश प्रतिदिन ही होता। पण्डित लोग अपने बाहुबल की परीक्षा के लिए आते। उनमें से कोई शहर से बाहिर ही रुक जाते, जो शहर में आते वह सामने आकर शास्त्रार्थ करने की अपेक्षा दूर से गाली-प्रहार को ही बहादुरी समझते। जो सामने आ जाते, वह प्रत्युत्पन्न-बुद्धि, युक्तियुक्त भाषण और ब्रह्मचर्य के ओज से प्रदीप्त आंखों के सामने या तो सिर झुकाते या शीघ्र ही कोई बहाना बनाकर सरकने का उपाय ढूंढते। पं० हीरावल्लभ और पं० टीकाराम मूर्तिपूजक थे। कई वार स्वामीजी से भिड़े भी, परन्तु अन्त में शिष्य बन गये और मूर्तियों को गंगा में प्रवाहित कर दिया। उनकी देखादेखी अनेक गृहस्थों ने भी मूर्तिपूजा को त्यागकर पूजा की सामग्री भागीरथी के पवित्र प्रवाह के अर्पण करदी।

मूर्तियों का जल-प्रवाह उन लोगों से न सहा गया, जिनकी उदर-पूर्ति का साधन ही मूर्ति-पूजा था। ब्राह्मण लोग नाराज हो गये और पराजित कायरों के हथियारों से कार्य लेना आरम्भ

किया। स्वामीजी को एक ब्राह्मण ने पान में जहर दे दिया। स्वामीजी को पता चल गया और उन्होंने न्योली कर्म द्वारा विष को शरीर से निकाल दिया। यह घटना वहां के तहसीलदार सय्यद मुहम्मद को पता लग गई। वह स्वामीजी का बड़ा भक्त था। उसे ब्राह्मण की दुष्टता पर बड़ा क्रोध आया। ब्राह्मण को उसने गिरफ्तार कर लिया और यह जानने के लिए कि उसे क्या दण्ड दिया जाय, स्वामीजी के निकट आया। स्वामीजी उससे बोले तक नहीं। वह आश्चर्यित हुआ और रुष्टता का कारण पूछने लगा। स्वामीजी ने उस समय जो उत्तर दिया, वह उनके सारे जीवन की चाबी है और प्रत्येक हृदय में अंकित करने योग्य सन्देश है। उत्तर निम्नलिखित था:—

'मैं संसार को कैद कराने नहीं आया हूँ वरन कैद से छुड़ाने आया हूँ। यदि वह अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ता तो हम अपनी श्रेष्ठता को क्यों छोड़ें ?'

स्वामीजी की आज्ञा से तहसीलदार ने उस ब्राह्मण को रिहा कर दिया।

अनूपशहर से प्रस्थान कर स्वामीजी अतरौली, जलेसर व गढ़िया, सोरों, पीलीभीत, शहबाजपुर, ककोड़े घाट, नरोली, कायमगंज आदि में प्रचार करते हुए फर्रुखाबाद पहुँचे। मार्ग में कई स्थानों पर शास्त्रार्थ और विचार हुए। प्रचार का अखण्ड क्रम जारी ही रहा। सोरों में पं० अङ्गद शास्त्री से शास्त्रार्थ हुआ। पं० अंगद शास्त्री की इस प्रदेश में बड़ी मानता थी—वह उस घेरे के प्रधान मल्ल समझे जाते थे। अंगद शास्त्री ने

देर तक शास्त्रार्थ करने के पीछे स्वामीजी के कथन की सत्यता स्वीकार की और अनुयायी बन गया। तब तो चारों ओर सुधार की बाढ़ आ गई। लोग धड़ाधड़ मूर्तियों का प्रवाह करने लगे, कण्ठियां टूटने लगीं, भागवत के ग्रन्थ रद्दी की टोकरी में पहुँच गये और स्वामीजी का जयकार चारों ओर गूंजने लगा।

जब स्वामीजी शहबाजपुर में थे, तब उन्होंने दण्डी विरजानन्द जी के देहावसान का समाचार सुना। स्वामीजी को बड़ा दुःख हुआ, वह अपने गुरु के बड़े भक्त और सच्चे शिष्य थे। उन्हें दण्डीजी के शिष्य होने का अभिमान था। समाचार सुनकर स्वामीजी के मुंह से हठात् यह शब्द निकले कि 'आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया'। स्वामी दयानन्द का 'व्याकरण के सूर्य' के प्रति इतना श्रद्धा-भाव यथार्थ ही था। स्वामीजी ने जो बड़ा कार्य धर्म के लिये किया, उसके लिए दण्डीजी का श्रेय कुछ कम नहीं है। यह ठीक है कि दयानन्द में बीज रूप से विद्या और अनुभव की सब शक्तियां विद्यमान थीं; परन्तु बीज को सींचने वाला माली विरजानन्द ही था। दण्डीजी के स्वभाव के विषय में कई प्रकार की सम्मतियां हो सकती हैं। वह आदर्श नहीं था, दण्डीजी के हृदय में सुधार का सारा क्रम भी निश्चित रूप से विद्यमान नहीं था; परन्तु उनका अगाध पाण्डित्य, आर्ष ग्रन्थों में अभिरुचि और रूढ़ि को न मानने की ओर प्रवृत्ति — यह गुण थे, जिन्होंने योग्य शिष्य के हृदय में विद्यमान बीज को भली प्रकार सींच कर हरे-भरे कल्पद्रुम के रूप में परिणत कर दिया।

फर्रुखाबाद में स्वामीजी बहुत देर तक रहे। वहां भी बड़े बल से कुरीतियों का खण्डन किया गया, और द्विजों को यज्ञोपवीत तथा गायत्री का प्रदान किया गया। पं० गोपाल, जिसका साहस योग्यता की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक था, शास्त्रार्थ करने के लिए आया। बेचारा शास्त्रार्थ-गुरु से क्या टक्कर लेता? शास्त्रार्थ में पराजित हुआ, परन्तु साहस ने उसका साथ न छोड़ा। वह भागा हुआ बनारस गया और कुछ धन-राशि दे-दिला कर सुरती और सूघंनी के उपासकों से मूर्ति-पूजा के पक्ष में व्यवस्था ले आया। वह व्यवस्था फर्रुखाबाद में डंके की चोट सुनाई गई, परन्तु असर कुछ भी न हुआ। होता भी कैसे? सब लोग व्यवस्था का मूल्य जानते थे? 'अरे का है?' 'महाराज! यह एक मोहर है और हस्ताक्षरों के लिए एक व्यवस्थापत्र है।' 'अरे का लिखलबा है?' 'महाराज मूर्तिपूजा का समर्थन किया है' महोपाध्याय ने मोहर को अन्टी में दबाया, सूंघनी की एक चुटकी नाक में दी और 'लांई' कह कर व्यवस्था-पत्र मांग लिया। लिखने की सामग्री हस्ताक्षर कराने वाला साथ लाता था, उसने कलम महामहोपाध्यायजी के हाथ में पकड़ा दी। अब देर क्या है — कलम उठाई, पत्र पढ़ने की फुर्सत कहां? नीचे हस्ताक्षर कर दिये। प्रजा के धर्म का निर्णय हो गया। इससे पण्डित-महाराजों को कोई मतलब नहीं कि व्यवस्था में क्या लिखा है।

व्यवस्था का भी कुछ प्रभाव न होता देख, ब्राह्मणों तथा तान्त्रिकों ने कानपुर से पं० हलधर ओझा को बुलवाया। पं०

हलधर ओझा व्याकरण के अच्छे पण्डित थे। उन्हें धर्म के विषय में कुछ अधिक ज्ञान नहीं था। शास्त्रार्थ विषय पर था पर ओझाजी उसे व्याकरण में खेंच ले गये। उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि स्वामीजी व्याकरण के भी अपूर्व पण्डित हैं। व्याकरण में भी पं० हलधर की हार हुई। उपस्थित पण्डितों ने इस बात को स्वीकार किया। तब तो स्वामीजी का प्रभाव और भी अधिक हो गया। फर्रुखाबाद के कई भक्त सेठों ने वेद-वेदांग की शिक्षा के लिए एक पाठशाला स्थापित करा दी। मूर्तिपूजा, मृतकश्राद्ध आदि से लोगों की श्रद्धा उड़ गई और गली-गली, कूचे-कूचे में पाठशालाओं के बालक तक स्वामीजी से सुनी हुई युक्तियां दोहरा कर ब्राह्मण गुरुओं का नाकों में दम करने लगे।

फर्रुखाबाद से अनेक स्थानों पर भ्रमण करते हुए स्वामी दयानन्द कानपुर पहुंचे, और गंगा-तट पर आसन जमाया। जैसे मधु की प्यासी मधुमक्खियां दूर-दूर से आकर फूल के इर्द-गिर्द घूमने लगती हैं, इसी प्रकार उस जागृति-काल की उतावली जनता धर्म की प्यास बुझाने के लिए विश्रान्त घाट की ओर उमड़ने लगी। पौराणिक मण्डल में हलचल मच गई। धनी साहूकारों ने बहुत-सा धन व्यय करके पण्डितों का जमाव किया। फर्रुखाबाद की चोट से घायल पं० हलधर ओझा अपनी नष्ट हुई कीर्ति को फिर से स्थापित करने के लिए दल बल सहित उपस्थित हो गये। बड़ा भारी जमाव हुआ। भैरव घाट मनुष्यों से भर गया। कानपुर के ज्वाइण्ट मजिस्ट्रेट मि०

डब्लू० थैन सभापति के आसन पर बिठाये गये। लगभग ५० हजार की भीड़-भाड़ में स्वामीजी और पं० हलधर में शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ।

शास्त्रार्थ का विषय मूर्तिपूजा था। पं० हलधर ने महाभारत से कुछ श्लोक पढ़ कर कहा कि भील ने द्रोण की मूर्ति बनाई थी। इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया कि भील कोई वेदज्ञ ऋषि नहीं था, वह एक अनपढ़ आदमी था, उसका कार्य सबके लिए प्रामाणिक नहीं हो सकता। इसीप्रकार शास्त्रार्थ जारी रहा, अन्त में सभापति को निश्चय हो गया कि स्वामीजी का कथन ठीक है और प० हलधर केवल समय बिता रहे हैं। वह स्वामीजी के विजय की घोषणा करके सभा से उठ गये। सभापति के उठ जाने पर लोगों में हल्ला मच गया, और 'बोल सनातन धर्म की जय' का पौराणिक धर्म के विजय तथा पराजय का सूचक एक ही शब्द आकाश में गूंजने लगा। थोड़े दिनों पीछे मि० थेन ने एक लिखित चिट्ठी कुछ सज्जनों को दी जिसमें लिखा था कि 'शास्त्रार्थ के समय मैंने स्वा० दयानन्द फकीर के पक्ष में व्यवस्था दी थी; मुझे विश्वास है कि उनकी युक्तियां वेदानुकूल थीं।'

आठवां परिच्छेद

गढ़ से टक्कर

बनारस में राजा माधोसिंह का आनन्द-बाग प्रसिद्ध है। उस बाग में कार्तिक सुदी द्वादशी सम्वत् १९२६ के दिन बड़ी धूमधाम थी। कुछ दिन हुए, एक लंगोटबन्द सन्यासी इस बाग में आकर ठहरा था। विद्या की पुरी काशी के सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पण्डित-मल्ल उस लंगोटबन्द के साथ अपनी बल परीक्षा करने के लिए आने लगे हैं। २२ अक्टूबर १८६९ ई० के दिन राजपुर से स्वामी दयानन्द बनारस में आकर उस उद्यान में ठहरे हैं। उनके आते ही सारे नगर में हलचल मच गई है। बुद्धि और धर्म में पूर्ण स्वतन्त्रता का मानने वाला सुधारक दयानन्द, अन्ध-विश्वास और रूढ़ि के गढ़ बनारस की दीवारों को सत्य की टक्कर से गिरा कर चकनाचूर करने के लिए, केवल एक परमात्मा को सहायक मान कर, युद्ध-भूमि में उतर आया है। काशीपुरी बहुत प्राचीनकाल से विद्या की खान समझी जाती है। उसके कोने-कोने में विद्यावारिधि, और गली-गली में महामहोपाध्याय रहते हैं। स्वामी दयानन्द हिन्दू धर्म की कुरीतियों का संहार करना चाहते थे। जब तक काशी अपराजिता थी, तब तक पौराणिक धर्म को भी हारा हुआ नहीं

मान सकते थे। जो पौराणिक पण्डित निरुत्तर होता था, वह काशी की ओर भागता था। कोई टका सेर व्यवस्था ले आता था, कोई स्वा० विशुद्धानन्द के नाम की दुहाई देता था, और कोई पं० राजाराम शास्त्री का नाम लेकर धमकाना चाहता था। आश्रय-हीन अंधकार का अन्तिम आश्रम बनारस ही दिखाई देता था। निर्भय वीर दयानन्द ने गुफा में पहुँच कर शेर को ललकारने का निश्चय किया और माधो बाग में जाकर धर्म का झण्डा गाड़ दिया।

स्वामी दयानन्द ने काशी नरेश को कहला भेजा कि यदि सत्यासत्य का निर्णय करना चाहते हो तो पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये तैयार करो। काशी नरेश ने पण्डितों को बुलाकर शास्त्रार्थ के लिए कहा। पण्डितों ने उत्तर दिया कि स्वा० दयानन्द वेद का पण्डित है और वेद की ही दुहाई देता है। हम लोगों को कुछ दिन वेदों में से प्रमाण खोजने के लिए मिलने चाहियें, पीछे हम शास्त्रार्थ कर सकेंगे। १५ दिन की मुहलत दे दी गई। पण्डित लोग खूब तैयारी करते रहे। शास्त्रार्थ के लिए कार्तिक सुदी द्वादशी का दिन निश्चित किया गया था। सभा के लिए माधो बाग ही उचित स्थान समझा गया, क्योंकि स्वा० दयानन्द ने सन्यासी धर्म के अनुसार दूसरे के स्थान पर जाना स्वीकार न किया। १५ दिन व्यतीत हो गये।

आज एक ओर माधो बाग में सभा का समारोह होने लगा और दूसरी ओर से पण्डितों को सभास्थान तक पहुँचाने के लिये काशी-नरेश के दरबार से पालकी, छत्र, चंवर आदि सामग्री

भेजी जाने लगी। आज मानो काशी के पण्डितों का परीक्षा-दिन था। इस दिन की सफलता पर उनका भविष्य अवलम्बित था। प्रतिपक्ष में कौपीनधारी साधु था, विद्या ही जिसका शास्त्र था, सत्य ही जिसका किला था और परमात्मा ही जिसका सहायक था। इधर अनेक पण्डितों की मण्डली थी, जिनके पास विद्या-खड्ग तो थी, परन्तु स्वतन्त्र विवेक के अभाव में रूढ़ि—रूपी जंगार से निकम्मी होगई थी। सत्य का मुख हिरण्मय पात्र से बंद हो चुका था। परमात्मा का स्थान एक ओर जड़ मूर्तियों ने और दूसरी ओर अन्नदाता काशी-नरेश ने छीन लिया था। जहां कौपीनधारी अपने सहायक पर भरोसा करके, सत्य के गढ़ में डेरा जमाकर, विद्या की तलवार पकड़े निर्भीक बैठा था, वहां अपनी शक्तियों और सहायकों को कमजोर समझकर पण्डित मण्डली कभी छत्र चंवर के ढोंग का आसरा ढूंढ़ती थी, और कभी सैकड़ों शिष्यों की पंक्तियां बांध कर समझती थी कि अब तो दयानन्द अवश्य दहल जायगा। परन्तु यहां वह लौ न थी, जो हवा के जरा से झोंके से बुझ जाती।

जो जनता माधो बाग की ओर उमड़ने लगी, उसमें निन्यानवे फीसदी मूर्ति-पूजा के मानने वाले थे। वह लोग सत्यासत्य निर्णय देखने नहीं जा रहे थे, बल्कि माने हुए 'सनातन—धर्म' को जिताने जा रहे थे। उन्हें बतलाया गया था कि बनारस में एक बड़ा भारी नास्तिक आया है, जो विश्वनाथपुरी में ही विश्वनाथजी को गालियां देता है। उसका दमन करना हिन्दूमात्र का कर्तव्य है। लोग अपनी-अपनी भावना के अनु-

सार एक बड़े नास्तिक की पराजय देखने जा रहे थे। जाने वालों में भले भी थे, और बुरे भी थे। भले आदमी अपने पण्डितों को आशीर्वाद देते जा रहे थे, और बुरे आदमी नास्तिक पर ईंट-पत्थर बरसाने के मंसूबे बांध रहे थे। सभा-मण्डप का प्रबन्ध शहर के कोतवाल रघुनाथसहाय के आधीन था। वह बड़े सज्जन थे। शान्ति से शास्त्रार्थ का कार्य चलाने के लिये उन्होंने बैठने की ऐसी व्यवस्था की थी कि स्वामीजी के साथ एक समय में एक ही पण्डित बोल सके, और पण्डित लोग उन्हें घेर कर न बैठ सकें। तीन ऊंचे आसन जमाये गये थे— एक स्वामीजी के लिये, दूसरा प्रतिपक्षी पण्डितजी के लिये और तीसरा काशी-नरेश के लिये।

विरोधियों की इतनी संख्या—और उनमें भी काशी के प्रसिद्ध गुण्डों की काफी राशि—स्वामीजी के भक्तों के हृदय कांपने लगे। एक भक्त ने स्वामीजी से भय की चर्चा की। स्वामीजी ने अपने स्वभाव के अनुसार ईश्वर-विश्वास और निर्भयता का उपदेश देकर सांत्वना देते हुए कहा कि 'एक परमात्मा है और एक ही धर्म है। दूसरा कौन है, जिससे डरें? उन सब को आ जाने दो—जो कुछ होगा उसी समय देखा जायगा।' स्वामीजी के भक्त पं० जवाहरदासजी ने भी कुछ संदेह प्रकट किया, और वैसा ही उत्तर पाया। निर्भय, निष्कम्प, निःशंक सन्यासी उमड़ते हुए विरोधी मेघ के करका-प्रहार को सहने के लिये तैयार होकर बैठा था और थोथी गर्ज पर मुस्करा रहा था। जो बहादुर, केसरी को उसकी मांद में जाकर ललकार सकता है,

वह उसकी गर्जना को भी अक्षुब्ध चित्त से सुन सकता है।

पौराणिकों की अक्षौहिणी सेना आ पहुंची। रोब जमाने को काशी नरेश; बालकी खाल उधेड़ने को वृद्ध स्वा० विशुद्धानन्द, प्रसिद्ध बाल शास्त्री और अन्य माधवाचार्य वामनाचार्य नारायण आदि विख्यात पंडित; तथा हल्ला मचाने को काशी के विद्यार्थी और गुंडे—इस प्रकार झूमती झामती और बेतहाशा जयजयकारों से आकाश को गुंजाती हुई अंग-त्रय सम्पन्न पौराणिक सेना माधो बाग में पहुँच गई। नियम-हीन सेना के पहुँचते ही मंडप का नियम टूट गया। कोतवाल का यत्न व्यर्थ हुआ। स्वामीजी को पंडितों ने चारों ओर से घेर लिया। उनके पास किसी हितैषी को बैठने का भी अवसर न दिया गया। रास्ते रोक लिये गये, और अकेले दयानन्द को घेर कर पचास हजार विरोधी सनातन धर्म का जयकारा बोलने लगे।

शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। कहने को शास्त्रार्थ था, परन्तु वस्तुतः वर्षा ऋतु के बढ़े हुए बीसियों प्रचण्ड नालों की चट्टान से टक्कर थी। हरेक पण्डित अपनी बलपरीक्षा कर रहा था और चाहता था कि किसी प्रकार स्वामीजी निरुत्तर हो जायं, परन्तु प्रत्युत्पन्नमति सन्यासी काबू नहीं आता था। बरसों अभ्यास और ब्रह्मचर्य पालन से संग्रह किये हुए निर्भयता, धैर्य और स्मृति आदि गुण इस समय उसके परम सहायक हुए। प्रश्नरूपी तीरों की अनवरत बौछार हो रही थी, साधन-सम्पन्न ब्रह्मचारी फेंके हुए तीरों को मार्ग में ही काटता जाता था और साथ ही अपने धनुष की करामात दिखा रहा था। उस लक्ष्यवेधी धनुष से

फेंके हुए अमोघ बाण विरोधियों के कवचों में छेद कर रहे थे ।

पं० ताराचरण ने पूछा—'आप मनुस्मृति को वेदमूलक कैसे मानते हैं ?'

स्वामीजी ने उत्तर दिया—'सामवेद के ब्राह्मण में कहा है कि जो कुछ मनु ने वर्णन किया है वह औषधों का भी औषध है ।'

ताराचरणजी चुप हो गये, स्वा० विशुद्धानन्दजी मदद के लिये पहुँचे ।

आप बोले—'रचनानुपपत्तेश्चनानुमानम्' इस वेदान्त-सूत्र को वेदमूलक सिद्ध करो ।

स्वामीजी ने उत्तर दिया—'यह उपस्थित वाद के भीतर नहीं है ।'

स्वामी विशुद्धानन्द जी—'प्रकरण के बाहिर है तो क्या हुआ ? यदि तुम्हें इसका समाधान आता है तो कह दो ।"

स्वा० दयानन्द—'इसका पूर्वापरपाठ देख कर समाधान किया जा सकता है ।'

स्वा० विशुद्धानन्द—'यदि सब कुछ याद न था तो काशी में शास्त्रार्थ करने क्यों आये थे ?'

स्वा० दयानन्द—'क्या तुम्हें सब कुछ कण्ठाग्र है ?'

स्वा० विशुद्धानन्द—'हां, हमें सब कुछ स्मरण है ।'

यहां उल्टा वार प्रारम्भ हुआ । पेंच में आता-आता चतुर सिपाही निकल गया । स्वा० दयानन्द ने पूछा—

'तब बताइये धर्म के लक्षण कितने हैं ?'

स्वा० विशुद्धानन्द ने सर्वज्ञता का दावा तो किया, परन्तु उन्हें मनुस्मृति का धर्म लक्षण सम्बन्धी 'धृतिक्षमा दमोस्तेयम्' इत्यादि श्लोक याद नहीं था; वह निरुत्तर होगये। स्वा० दयानन्द ने श्लोक पढ़ सुनाया। इस पर प्रसिद्ध धर्माचार्य पं० बाल शास्त्रीजी मदद पर आ पहुँचे। आपने कहा कि 'हमने सम्पूर्ण धर्मशास्त्र का अध्ययन किया है, इस विषय में कुछ पूछना चाहते हो तो हमसे पूछिये।'

स्वा० दयानन्द ने पूछा—'आप अधर्म के लक्षण बतलाइये।'

बाल शास्त्रीजी ने कभी सोचा भी न था कि कोई आदमी अधर्म के लक्षण भी पूछ सकता है। उन्हें निरुत्तर होना पड़ा।

इसीप्रकार प्रश्नोत्तर होते रहे। मूर्त्तिपूजा के सम्बन्ध में काशी के पण्डितों ने दो ही बातें पेश कीं। एक तो यह कि वेद में प्रतिमा शब्द आया है, वह मूर्त्ति का वाचक है; और दूसरा यह कि 'उद्‌बुध्यस्वाग्ने' इत्यादि मन्त्र में जो 'पूर्त' शब्द आया है, वह मूर्त्तिपूजा का सूचक है। स्वामीजी ने दोनों का ही समाधान कर दिया। ईश्वर की प्रतिमा का वेद में स्पष्ट निषेध है, और पूर्त शब्द नदी-तड़ाग आदि का वाचक है। यह समाधान करके स्वामीजी बारंबार यही पूछते रहे कि 'वेद में मूर्तिपूजा का विधान कहां हैं ?'

हर तरह से लाचार होकर पण्डित-मण्डली ने चालाकी की शरण ली। इस विषय पर शास्त्रार्थ करने से टल कर पण्डित

लोग स्वामीजी को उलझाने की नीयत से पुराणों के विषय पर विवाद करने लगे, परन्तु शीघ्र ही अनुभव करने लगे कि यह व्यूह भी अभेद्य नहीं है। स्वामीजी ने अवसर पाकर व्याकरण-सम्बन्धी प्रश्न पण्डितों के सामने रखा — कोई भी संतोष-जनक उत्तर न मिला। पण्डित लोग खिन्न और हताश होने लगे। तब माधवाचार्यजी आगे बढ़े और कोई दो पत्रे लाकर बीच में रखते हुए कहा कि 'यहां पर लिखा है कि यज्ञ की समाप्ति पर यजमान दसवें दिन पुराणों का पाठ श्रवण करे, अब स्वामीजी बताइये कि 'पुराण' किसका विशेषण है ?'

स्वामीजी—'आप पाठ पढ़ कर सुनाइये'

स्वामी विशुद्धानन्दजी ने पत्रे स्वामी दयानन्दजी के हाथ में पकड़ा कर कहा कि 'आप ही पढ़ लीजिये'।

स्वामी विशुद्धानन्द जी बोले 'मैं चश्मे के बिना नहीं पढ़ सकता, इसलिए आप ही को पढ़ना होगा'। स्वामी दयानन्द ने पत्रे हाथ में ले लिये। अन्धेरे के कारण पढ़ना कठिन था। दीपक मंगवाया गया। लालटैन की रोशनी भी बड़ी मद्धम थी, पत्रे पढ़ने में कुछ समय लगा। उचित मौका समझ कर पंडित मण्डली उठ खड़ी हुई। इसप्रकार धूर्त्तता होते देख कर स्वा० दयानन्द ने स्वा० विशुद्धानन्द का हाथ पकड़ कर कहा कि 'बैठ जाइये। निर्णय किये बिना बीच ही में उठ खड़े होना आप जैसे विद्वानों को कदापि उचित नहीं' परन्तु स्वा० विशुद्धा-नन्द जी न बैठे और स्वा० दयानन्द की पीठ पर हाथ फेर कर कहने लगे कि 'अब बैठिये, जो कुछ होना था हो चुका।'

पण्डितों का इशारा पाकर काशी-नरेश ईश्वरीनारायण-सिंह भी खड़े हो गये, और ताली पीट दी। इधर इशारा पहिले से बंधा हुआ था। सारा जनसमुद्र एकदम खड़ा होकर 'सनातन धर्म की जय' बोलने लगा। कोतवाल बड़ा सज्जन था। उसे काशी-नरेश का ओछा व्यवहार बहुत अखरा। उसने काशी-नरेश से कहा कि 'आपने ताली पीट कर बहुत बुरा किया, यह कार्य सभा के नियमों के विरुद्ध था।' नरेश कोतवाल की बगल में हाथ देकर आगे बढ़ गये और समझाया कि हम तुम सभी मूर्त्तिपूजक हैं, तब अपने सामान्य शत्रु को जैसे हो सके पराजित करना ही चाहिये। इस दंगा-काण्ड के नेता काशी-नरेश का इशारा पाकर सम्पूर्ण जनसमूह मनमानी करने लगा। किसी ने पत्थर, किसी ने कंकर, किसी ने जूता — अधिक क्या लिखें, जिसे जो मिला उसने वही उछाला और स्वामीजी की ओर भेजा। जैसे तूफान के समय हवा के जोरदार झोंकों के साथ मिट्टी, कंकर, लकड़ी और पत्ता आदि पदार्थ पर्वत की निष्कम्प पट्टान पर टकराते हैं और लज्जित होकर नीचे गिर पड़ते हैं, इसीप्रकार स्वार्थपूर्ण दम्भ द्वारा भड़काये हुए इन अज्ञानी लोगों के भेजे गर्हित पदार्थ भी लज्जित होकर गिर पड़े, सन्यासी के पयोधि—गम्भीर हृदय पर कोई प्रभाव न उत्पन्न कर सके।

पौराणिक दल ने शहर भर में पण्डितों का जुलूस घुमाया, मूर्तिपूजा का जय—जयकार मचाकर अपनी सत्य प्रियता का परिचय दिया और सब स्थानों पर समाचार भेज

दिया कि दयानन्द परास्त हो गया है। शहर में पण्डितों की ओर से विज्ञापन लगा दिये गये कि दयानन्द के पास कोई न जाय, जो जायगा वह पातकी हो जायगा। यह सब कुछ किया गया परन्तु संसार की आंखों में धूल न डाली जा सकी। देश के पक्षपात-हीन समाचार-पत्रों ने स्वा० दयानन्द की विजय का ही समाचार प्रकाशित किया। पं० सत्यव्रत सामाश्रमी जी ने अपनी 'प्रत्न-कमर-नन्दिनी' नाम की मासिक पत्रिका में स्वामीजी की सफलता की घोषणा दी। 'रुहेलखण्ड' नामक पत्र ने लिखा कि 'स्वामी दयानन्दजी ने काशी के पण्डितों को जीत लिया है'। 'ज्ञान प्रदायिनी' (लाहौर) ने समाचार दिया कि 'इसमें सन्देह नहीं कि पण्डित लोग मूर्तिपूजा की आज्ञा वेदों में नहीं दिखा सके'। 'हिन्दूपेट्रियट' ने प्रकाशित किया कि "पण्डित लोग यद्यपि अपने ज्ञानशास्त्र का अतिगर्व करते थे, परन्तु उनकी बड़ी भारी हार हुई।"

स्वामीजी का उपदेश सुनने से रोकने वाला विज्ञापन भी निष्फल हुआ। हवा का झोंका भ्रमरों को फूल के पास जाने से न रोक सका। लोग और भी अधिक उत्सुकता से सन्यासी का सदुपदेश सुनने जाने लगे। स्वामी दयानन्द की धाक चारों ओर बैठ गई। जिस फौलादी ढाल से टकरा कर काशी के सुसंस्कृत तीर कुण्ठित हो गये, तिनकों की क्या मजाल थी कि उस पर अड़ सकें। देश—देशान्तर में इस शास्त्रार्थ का सम्वाद हवा की तरह फैल गया और अपने साथ स्वामीजी की पाण्डित्य-कीर्ति के सौरभ को भी लेता गया।

रूढ़ि के गढ़ से दयानन्द की टक्कर का जो भयंकर शब्द हुआ, उससे दिशायें गूँज उठीं। गूंज से आश्चर्यित देश ने देखा कि सदियों के अन्धेरे में खड़ा किया हुआ कुरीतियों का मीनार ठोकर खाकर भीषण शब्द करता हुआ विश्वनाथपुरी की जलधारा में विलीन होरहा है। स्वार्थ कांप उठा और सत्य का प्रकाश चमकने लगा।

—:[*]:—

नवां परिच्छेद

सुधार की तीसरी दशा

(१८७० से १८७५ ई०)

धीरे-धीरे स्वामी दयानन्दजी के सुधार-कार्य ने अपनी तीसरी दशा में प्रवेश किया। सुधारक के विचार पहले से ही विस्तृत थे, अनुभव के अधिक होने से उनका क्रियात्मक रूप भी विस्तृत होने लगा। यह नहीं समझ लेना चाहिये कि बनारस के शास्त्रार्थ के पीछे एकदम कोई दशा-परिवर्तन हो गया। कार्य का क्षेत्र धीरे-धीरे बढ़ रहा था। बनारस के शास्त्रार्थ के कारण स्वामीजी की ख्याति सारे देश में फैल गई। देश की दशा से चिन्तित सुदूरवर्ती महानुभावों ने, काशी के पंडितों को पराजित करने वाले वावदूक के वृत्तान्त पढ़ कर हृदय को ढारस दिया।

उधर कलकत्ता, बम्बई आदि के पण्डितों पर स्वामीजी की धाक बंध गई। सुधारक दयानन्द की सब ओर चर्चा होने लगी।

यश के विस्तार के साथ-साथ स्वामीजी का दृष्टि-क्षेत्र भी विस्तृत होने लगा। अगले पांच सालों में हम सुधार के कार्य का फैलाव होता देखते हैं। हम देखेंगे कि धीरे-धीरे स्वामीजी का कार्य करने का ढङ्ग बदलने लगा। पुरानी केवल शास्त्रार्थ की या अपने डेरे पर प्रचार करने की रीति को छोड़ कर नियम-पूर्वक सभायें करने और उनमें व्याख्यान देने की पद्धति का अनुसरण होने लगा। स्वामीजी अबतक केवल संस्कृत में व्याख्यान देते थे, उसमें परिवर्तन होगया। आप हिन्दी में व्याख्यान देने लगे। अब तक केवल कौपीन धारण किये रहते थे — आश्रम पर, सभा में, शास्त्रार्थ के समय, इसी वेष में रहते थे। वह भी बदलने लगा। सभा में आप कपड़े पहिन कर जाने लगे। इसीसमय सत्यार्थप्रकाश भी लिखा गया। इस प्रकार स्वामीजी का प्रचार का क्रम अवस्थाओं से परिवर्तित होने लगा। यह परिवर्तन कार्य को अधिक विस्तृत और लोको-पयोगी बनाने का साधन हुआ।

परिवर्तन एकदम नहीं हुआ, कार्य के फैलाव के कारण नये-नये उपायों का अवलम्बन आवश्यक होता गया। दौरे के प्रसंग में देश के कई अन्य सुधारक महानुभावों से मिलने का मौका मिला। उनके साथ विचार-विनिमय में कई नये विचार उठे, जो शीघ्र ही कार्य में परिणत हो गये। जिस समय का वृत्तान्त हम लिखने लगे हैं, वह सुधार की अन्तिम दशा के

निर्माण का समय था। उसके अन्त में हम ऋषि दयानन्द को एक पूर्ण सुधारक के साथ-साथ एक भारी कार्य का केन्द्र बना हुआ पायेंगे। सुधार की अंतिम दशा पर पहुँच कर स्वामीजी की कार्य-शक्ति निर्माण के रूप में प्रकट होने लगी। वह विषय अगले परिच्छेदों का होगा। वर्तमान परिच्छेद में हम स्वामीजी के सुधार कार्य के पूर्ण फैलाव का वृत्तान्त लिखते हुए, उन सीढ़ियों की खोज करेंगे, जिनसे होकर कार्य का क्रम पूरी ऊंचाई तक पहुँचा।

बनारस से प्रयाग होते हुए स्वामीजी मिर्जापुर गये। मिर्जा-पुर में कई मास तक धर्म-प्रचार करके स्वामीजी फिर बनारस में पधारे। इस बार विशेष घटना यह हुई कि काशी नरेश ने अपने गत वर्ष के व्यवहार के लिए प्रायश्चित्त किया। नरेश ने स्वामीजी के दर्शनों की इच्छा प्रकट की, और अनुमति पाकर अपनी गाड़ी भेज दी। स्वामीजी जब नियत स्थान पर पहुँचे तब महाराज ने खड़े होकर स्वागत किया, अन्दर ले जाकर स्वर्ण के सिंहासन पर बिठाया और अपने हाथों से स्वामीजी के गले में हार पहिनाया।

प्रारम्भिक कार्य समाप्त हो जाने पर महाराज ने स्वामीजी से हाथ जोड़कर निवेदन किया कि 'मूर्तिपूजा में हमारे कुल की सनातन काल से श्रद्धा है। उसके प्रसंग से शास्त्रार्थ के समय आपकी अवज्ञा हो गई थी। आप सन्यासी हैं—आशा है, क्षमा कर देंगे'। स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि 'हमारे मन में उस बात का लेशमात्र भी संस्कार नहीं है'। महाराज ने विदा करते

हुए स्वामीजी की सेवा में उचित भेंट उपस्थित की। इस प्रकार यह सुखान्त प्रसंग समाप्त हुआ।

बनारस से स्वामीजी कासगंज गये। वहां आपकी स्थापित की हुई एक पाठशाला थी, जिसमें ब्रह्मचर्य के नियमों के पालन के साथ अष्टाध्यायी, महाभाष्य तथा मनुस्मृति आदि का अध्ययन कराया जाता था। कासगंज की पाठशाला का स्वामीजी ने निरीक्षण किया। यहां पर एक और घटना हुई, जो देखने में बहुत सामान्य थी; परन्तु उससे स्वामीजी की निर्भयता का पुष्ट प्रमाण मिलता है। आप बाजार में जा रहे थे, सामने से एक मस्त मरखना सांड आ रहा था। बाजार के सब लोग इधर-उधर भाग रहे थे, कोई रास्ता रोकने का साहस नहीं करता था। स्वामीजी रास्ते से न हटे और चलते ही गये। जब स्वामीजी बहुत पास पहुँचे तब सांड स्वयं ही रास्ता छोड़कर अलग होगया। जनता के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। एक भक्त ने पूछा कि 'महाराज! यदि वह सांड सामने से न हटता तो आप क्या करते?' स्वामीजी ने उत्तर दिया कि 'सींग से पकड़कर अलग कर देते'। स्वामीजी पर शारीरिक भय कोई प्रभाव नहीं कर सकता था। यहां से चलकर स्वामीजी छलेसर, कर्णवास, फर्रुखाबाद आदि स्थानों पर भ्रमण करते हुए बनारस गये, और वहां से पूर्व की ओर प्रस्थान किया।

पूर्व की यात्रा में एक बड़ी मनोरंजक घटना हुई। मुंगेर जाते हुए रास्ते में जमालपुर जंकशन पर कुछ देर तक ठहरना पड़ा। स्वामीजी के शरीर पर केवल कौपीन थी। आप प्लेटफार्म

पर घूम रहे थे। स्टेशन पर एक पत्नी सहित अंग्रेज इञ्जीनियर विद्यमान था। नंगा शरीर देखकर इञ्जीनियर साहब के सभ्यता-सम्बन्धी विचारों पर बड़ा धक्का लगा। आपने झट स्टेशनमास्टर को बुलवाकर कहा कि 'यह नंगा कौन टहल रहा है, इसे इधर-उधर घूमने से बन्द कर दो'। स्टेशनमास्टर का अंग्रेज ही ईश्वर था। उसने स्वामीजी के पास जाकर निवेदन किया कि 'महाराज! दूसरी ओर चलकर कुर्सी पर आराम कीजिये। मुंगेर की गाड़ी के जाने में अभी देर है'। स्वामीजी सब ताड़ गये। आपने स्टेशन मास्टर से कहा कि 'जिसने तुम्हें हमारे हटाने के लिये कहा है उससे कह दो कि हम उस समय के मनुष्य हैं, जब आदम हव्वा नंगे अदन-बाग में सैर किया करते थे'। स्टेशनमास्टर यह उत्तर सुनकर टल गया। स्वामीजी टहलते रहे। इञ्जीनियर ने फिर उसे बुलवाया। स्टेशनमास्टर ने साधु को प्लेटफार्म से हटाने में असमर्थता प्रकट करते हुए कहा कि 'यह स्वतन्त्र सन्यासी है' आश्चर्यित होकर अंग्रेज ने नाम पूछा। स्टेशनमास्टर ने नाम बता दिया। साहब यह कहता हुआ कि 'क्या ये ही प्रसिद्ध सुधारक दयानन्द सरस्वती हैं?' झट स्वामीजी के पास चला गया और बहुत देर तक बातचीत करता रहा।

मुंगेर से भागलपुर होते हुए स्वामीजी १८७२ ई० के दिसम्बर मास में कलकत्ता पहुंचे। वहां उन दिनों बा० केशवचन्द्र-सेन की धूमधाम थी। ब्राह्मो समाज के आकाश में सेन बाबू का सितारा चमक रहा था। प्रारम्भ में कलकत्ता के ब्रह्मसमाजियों की ओर से स्वामीजी का विशेष सत्कार भी हुआ। यद्यपि

ब्राह्मो समाज के वृद्ध नेता श्रीयुत देवेन्द्रनाथ टागोर ने अपना स्थान स्वामीजी के उतारे जाने के लिये नहीं दिया तो भी अन्य ब्राह्मो समाजियों ने स्वामीजी का अच्छा आदर किया। पं० हेमचन्द्र चक्रवर्ती उन लोगों में से थे जो विश्वास से ब्राह्मो थे, परन्तु बा० केशवचन्द्रसेन की ईसाइयत की ओर प्रवृत्ति से कुछ असन्तुष्ट थे। स्वामीजी के उपदेशों से उन पर बड़ा प्रभाव हुआ। वह देर तक स्वामीजी के साथ रहकर योगाभ्यासादि सीखते रहे।

बा० केशवचन्द्रसेन कहीं बाहिर गये हुए थे। जब वह कलकत्ते आये तो स्वामीजी का समाचार सुना। मिलने की इच्छा से सेन महाशय स्वामीजी के पास गये, परन्तु परिचय न दिया और बातचीत करने लगे। बातचीत के पीछे सेन महाशय ने स्वामीजी से पूछा कि 'क्या आप कभी केशवचन्द्रसेन से मिले हैं?' स्वामीजी ने उत्तर दिया 'हां, मिले हैं'। सेन महाशय ने पूछा 'आप उससे कब मिले?' स्वामीजी ने उत्तर दिया 'अभी'। सेन महाशय आश्चर्यित हुए। आपने पूछा "यह आपने कैसे जाना कि मैं ही केशवचन्द्र हूं?" स्वामीजी ने उत्तर दिया कि 'जैसी बातें आपने की हैं, वैसी किसी दूसरे से नहीं हो सकतीं।' इस प्रकार इन दो महापुरुषों में परिचय हुआ। इसके अनन्तर स्वामीजी और सेन महाशय में वार्तालाप होता रहा।

दोनों महापुरुप देश की भलाई में दत्तचित्त थे, दोनों ही अद्भुत वक्ता थे, दोनों ही में जनता पर बिजली का असर पैदा करने की शक्ति थी। जिसप्रकार समानतायें थीं, वैसे ही असमानतायें भी बहुतसी थीं। एक बड़ी असमानता दोनों

महापुरुषों की निम्नलिखित बातचीत से स्पष्ट होगी। एक दिन सेन महाशय ने स्वामीजी से पूछा कि 'भिन्न भिन्न धर्मों के मानने वाले लाग अपने-अपने मान्य ग्रन्थ को ईश्वरीय और अन्तिम प्रमाण मानते हैं, और कहते हैं। आप वेद को ईश्वरीय ज्ञान कहते हैं। हम कैसे जानें, किसका कहना सच्चा है" ? स्वामीजी ने उत्तर में कुरान और बाइबिल में से अनेक दोष दिखाये और वेदों की निर्दोषता दिखाते हुए कहा—"निर्दोष होने से वैदिक धर्म ही सच्चा है।"

इस वाक्य पर सेन महाशय ने कहा :—

'शोक है कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अंग्रेजी नहीं जानता अथवा इंग्लैण्ड जाते समय वह मेरा इच्छानुकूल साथी होता।'

स्वामीजी ने उत्तर दिया 'शोक है कि ब्राह्मो समाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देता है जिसे वे नहीं समझते।' (श्रीमद्दयानन्दप्रकाश)

दोनों नेताओं में यही भेद था। एक की दृष्टि पूर्वाभिमुख थी, दूसरे की पश्चिमाभिमुख। एक को भारत की आर्य प्रजा की हितकामना थी, दूसरे का अधिक ध्यान यूरोप के साधुवाद की ओर था। व्यक्तिगत स्वभाव में भी अनेक भेद थे, परन्तु उनके उल्लेख की यहां आवश्यकता नहीं। एक का जीवन हृदय का खिलौना था—दूसरे की उमंगें उच्च जीवन की दासियां थीं। एक के आत्मा की उच्चतर अभिलाषा यह थी कि वह 'ब्रह्मा से जैमिनि पर्यन्त' ऋषियों का अन्यतम व्याख्याता बने, और दूसरे का हृदय संसार में एक नया धर्म स्थापित करके मुहम्मद और

ईसा को श्रेणी में शामिल होने पर तुला हुआ था। इन भेदों के होते हुए भी यह कहने में अत्युक्ति नहीं है कि अपने-अपने क्षेत्र में दोनों ही असाधारण थे, दोनों में चुम्बक की शक्ति थी, प्रतिभा थी, महापुरुषता के सम्पूर्ण चिन्ह थे। ऐसे दो महापुरुषों का परस्पर मेल-मिलाप विशेष फल उत्पन्न किए बिना नहीं रह सकता था। यदि विशेष विचार से देखा जाय तो मालूम होगा कि इस बात-चीत का दोनों ही पर बहुत गम्भीर परिणाम हुआ।

बा० केशवचन्द्रसेन के जीवन का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन करें तो हम उसमें दो तीन परिवर्तन देखते हैं। प्रारम्भ में उसका झुकाव ईसाइयत की ओर था। उसका पहला प्रकाश १८६६ में हुआ, जब मैडिकल कालेज में 'Jesus Christ-asia and Europe' इस विषय पर व्याख्यान देते हुए सेन महाशय ने ईसा को ईश्वर का पुत्र और पैगम्बरों का सर्दार बताया। यह लहर बहुत वर्षों तक रही और इस लहर में बहते हुए ब्राह्मो नेता का ध्यान योग या तपस्या की ओर नहीं गया। लगभग ७ वर्ष पीछे हम एकदम बड़ा परिवर्तन देखते हैं और १८७५ के अन्त में बा० केशवचन्द्रसेन को तप और योग की ओर झुकता हुआ पाते हैं। स्वामी दयानन्दजी १८७३ के प्रारम्भ में कलकत्ते गये थे। इन दोनों घटनाओं में परस्पर सम्बन्ध ढूंढ़ लेना कुछ कठिन नहीं है। एक बार परिवर्तन आरम्भ हो जाने पर सेन महाशय की गतिशील प्रवृत्ति का बहुत आगे बढ़ जाना स्वाभाविक ही था। भक्ति-मार्ग पर चलकर उस समय के ब्राह्मोसमाजियों ने कैसे कैसे परिहास किये, यह बताने की आवश्यकता नहीं; परन्तु

लेखक की सम्मति है कि केशवचन्द्रसेन के हृदय में जो बहिर्मुख लहर बह रही थी, उसे अन्तर्मुख करने के लिये प्रारम्भिक चोट स्वामी दयानन्द से मिली हो—यह कुछ असम्भव नहीं है।

यह मानने में कोई संकोच का कारण नहीं है कि बा० केशवचन्द्रसेन और ब्राह्मोसमाज के कार्य का कलकत्ते में अनुशीलन स्वामीजी के कार्यक्रम पर भी कुछ कम प्रभाव उत्पन्न करने वाला नहीं हुआ। यह मानी हुई बात है कि स्वामीजी ने सर्वसाधारण के लिए आर्यभाषा में व्याख्यान देना बा० केशवचन्द्रसेन के कहने पर ही प्रारम्भ किया था। इससे पूर्व वह संस्कृत में ही व्याख्यान देते थे। अब तक प्रायः स्वामीजी कौपीन मात्र रखते थे, व्याख्यान के समय भी यही वेष रहता था। बा० केशवचन्द्रसेन के कथन पर स्वामीजी ने व्याख्यान देने के समय अन्य वस्त्र धारण करना भी अंगीकार कर लिया। इन दो बातों के अतिरिक्त यह भी कुछ कम महत्त्व की बात नहीं है कि आर्यसमाज रूपी संगठन स्थापित करने का विचार स्वामीजी के हृदय में कलकत्ता जाने के पीछे ही उत्पन्न हुआ। इससे पूर्व किसी संगठन की स्थापना का विचार उद्बुद्ध हुआ प्रतीत नहीं होता। ब्राह्मो-समाज के सिद्धान्तों और संगठन की अपूर्णता को देखकर स्वामी दयानन्द के हृदय में एक अन्य वैदिक समाज के स्थापित करने की इच्छा उत्पन्न हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

कलकत्ते में स्वामीजी के कई व्याख्यान हुए। एक व्याख्यान सेन महाशय के घर पर भी हुआ। इन व्याख्यानों का

बहुत उत्तम प्रभाव होता रहा। उत्साहपूर्ण बंगाली जनता का हृदय स्वामीजी के भाषणों से उछल पड़ा। कलकत्ते से हुगली, भागलपुर आदि स्थानों पर प्रचार करते हुए स्वामीजी फर्रुखाबाद गये। वहां पाठशाला का निरीक्षण करके २५ दिसम्बर १८७३ के दिन आप अलीगढ़ पहुँचे। यहां आपने राजा जयकृष्णदासजी के यहां आसन जमाया। अलीगढ़ से हाथरस होते हुए, स्वामीजी मथुरापुरी गये। मथुरा वैष्णवों की राजधानी है। वहां के रंगाचार्यजी तिलक छाप-धारियों के परम गुरु माने जाते थे। फाल्गुन एकादशी सम्वत् १९३० के दिन, ब्रह्मोत्सव के समय स्वामीजी ने वृन्दावन में पहुँच कर मलूकदास के राधाबाग में आसन जमाया। यहां पर आपकी स्थिति अनेक मनोरंजक घटनाओं से परिपूर्ण हुई।

वृन्दावन में ब्रह्मोत्सव के अवसर पर हज़ारों लोग एकत्र होते हैं। स्वामीजी ने निर्भीकता से मूर्तिपूजा, तिलकछाप आदि का खण्डन प्रारम्भ कर दिया। पौराणिक-सरोवर में भारी हलचल मच गई। लोग भागे हुए रंगाचार्यजी के पास पहुँचे। इधर स्वामीजी ने भी रंगाचार्य के पास एक पत्र भेजा, जिसमें उन्हें शास्त्रार्थ के लिये आमन्त्रण दिया। रंगाचार्यजी ने बनारस के शास्त्रार्थ की घटना सुन ही रखी होगी। जिस वीर योद्धा पर काशी के हथियार नाकाम हुए, उस पर मथुरा के निर्बल हथियार क्या असर डाल सकते थे? रंगाचार्यजी ने पहले तो कहला भेजा कि मेले के दिनों में अवकाश न होने से शास्त्रीय विचार होना कठिन है, और जब मेला हो

चुका तो रोगी होने के कारण स्वामीजी के आमन्त्रण को स्वीकार न कर सके।

रंगाचार्यजी शास्त्रार्थ के मैदान में न आये परन्तु उनके शिष्य नीचता के मैदान में उतर आये। वे कई उपायों से स्वामीजी को डराने या बेइज्जत करने का यत्न करते रहे। वृन्दावन में धर्म की ध्वजा गाड़ कर स्वामीजी मथुरा चले गये। यहां पण्डों, गुण्डों और चौबों के एक बड़े समूह ने स्वामीजी के निवासस्थान पर धावा किया। धावा करने वालों के हाथों में डण्डे थे। इधर स्वामीजी का स्थान भी अरक्षित नहीं था। स्वामीजी के भक्त राजपूत सदा पहरे का प्रबन्ध रखते थे। गुण्डा-मण्डली स्वामीजी के द्वार को सुरक्षित देख कर आगे न बढ़ सकी, और गालियां बकने लगी। स्वामीजी के सेवक गालियां सुन कर जोश में आगये, परन्तु शान्ति का उपदेश सुन कर चुप हो गये। स्वामीजी ने उन्हें समझा दिया कि नासमझों की नासमझी देखकर समझदारों को अपनी समझ नहीं छोड़ देनी चाहिये। गुण्डे निराश होकर लौट गये।

यहां से निराश होकर विरोधियों ने दूसरी चाल चली। उन्होंने चांद पर थूकने का विचार किया। स्वामीजी उपदेश दे रहे थे, उस समय विरोधियों के बहकाये हुए एक कसाई और शराब की दूकान वाले ने पुकार कर कहा कि 'स्वामीजी, आपका कई दिनों का लेखा हो गया है, दाम देकर उसे चुका क्यों नहीं देते?' विरोधी निराश हुए, क्योंकि उपस्थित जनता

में से किसी ने भी यह विश्वास न किया कि सूर्य कलंकी हुआ है । सभा के अन्त में उन्हें बुला कर पूछा गया तो उत्तर मिला कि 'महाराज हमें मांगीलाल मुनीम ने कहा था कि सभा में जाकर तुम यह वाक्य कह देना, मैं तुम्हें पीछे पुरस्कार दूंगा। विरोधियों ने एक कुलटा को भी धन का लोभ देकर तय्यार किया कि वह सभा में जाकर स्वामीजी पर लाञ्छन लगा दे । कुलटा सभा में पहुँची। स्वामीजी व्याख्यान दे रहे थे । अमृत की धारा से पापिन के हृदय का पाप धुल गया । उसे पश्चात्ताप हुआ । व्याख्यान की समाप्ति पर स्वयं ही स्वामीजी के चरणों में गिर पड़ी और अपने मानसिक अपराध के लिये क्षमा मांगने लगी । ब्रह्मचारी का चरित्र निर्दोष था । जो निर्दोष है, उस पर फेंका हुआ मैला लौट कर फेंकने वाले पर ही पड़ता है।

मथुरा से चलकर मिर्जापुर और बनारस होते हुए स्वामीजी प्रयाग में पहुँचे। यहां पर उनके प्रचार का यश पहिले से ही पहुँच चुका था । शिक्षित समाज बड़ी उत्सुकता से आपके व्याख्यान सुनने आता था। रायबहादुर पं० सुन्दरलाल आपके विशेष भक्तों में से थे । वह बराबर सत्संग में आया करते थे । इन दिनों स्वामीजी ईसाइयों का बड़े जोर से खण्डन किया करते थे । सत्यार्थप्रकाश के लेख का कार्य भी बराबर होता था ।

आपकी योगशक्ति की सूचना समय-समय पर लोगों को मिलती रहती थी । योगशक्ति का ही फल था कि आप

परोक्ष की कल्पना कर लिया करते थे और वह कल्पना ठीक निकलती थी। एक बार रायबहादुर पं० सुन्दरलाल आदि सज्जन स्वामीजी के स्थान पर बैठे हुए थे। स्वामीजी मुस्कराते हुए उनके सन्मुख आये और उन लोगों से कहने लगे कि "एक मनुष्य मेरी ओर चला आता है। उसके आने पर आपको एक कौतुक दिखाई देगा। थोड़ी देर में एक ब्राह्मण मिठाई लिये आ पहुँचा और सामने रखदी। स्वामीजी ने मिठाई का एक टुकड़ा उसे खाने को दिया, परन्तु उसने लेने से इन्कार किया और उलटा कांपने लगा। तब सबने समझ लिया कि अवश्य इस मिठाई में विष मिला हुआ है। मिठाई का टुकड़ा कुत्ते के आगे फेंका गया, जिसे खाकर कुत्ता छटपटाने लगा और शीघ्र ही मर गया। तब तो उपस्थित लोग उस ब्राह्मण को पुलिस के सुपुर्द करने को तैयार हो गये। स्वामीजी ने अपनी दयालुता के कारण उसे क्षमा कर दिया। १८७४ ई० के अक्तूबर मास के मध्य तक स्वामीजी प्रयाग में रहे, फिर पश्चिम की ओर प्रस्थित हुए।

दसवां परिच्छेद

आर्य्यसमाज की स्थापना—बम्बई प्रांत में प्रचार

स्वामी दयानन्द का सुधार-सम्बन्धी कार्यक्रम सर्वांग सम्पन्न होकर जनता के सामने आगया। स्वामीजी ने अपने

कार्य को वैष्णव सम्प्रदाय के खण्डन से प्रारम्भ किया था। धीरे-धीरे उनका खण्डनास्त्र सारे पौराणिक मतों पर व्याप गया। वह सुधार की दूसरी दशा थी। ज्यों ज्यों वैदिक धर्म का रूप अन्य सब मतों की अपेक्षा उज्ज्वल रूप में दिखाई देने लगा, त्यों-त्यों अन्य सब धर्माचार्यों का अपनी रक्षा के लिये यत्न भी जारी हो गया। ईसाई और मुसलमान अपने सम्प्रदाय की रक्षा के लिये चेष्टा करने लगे। इसी में स्वामीजी का मौलवियों और पादरियों से भी संघर्ष उत्पन्न हो गया। स्वामीजी ने सब मतों और सम्प्रदायों का खण्डन कर वैदिक धर्म को स्थापित करना आरम्भ कर दिया। इसप्रकार स्वामीजी का कार्य्यक्रम पूरा हो गया।

स्वामीजी ने ईसाइयत और इस्लाम का खण्डन प्रारम्भ कर दिया। इसी बात के दो निमित्त बताये जा सकते हैं। एक निमित्त तो यह कि स्वामीजी उस समय की आर्य जाति पर इन दो मतों से उत्पन्न होने वाले खतरे को देख रहे थे। स्वामीजी ने देखा कि हिन्दुओं को ईसाई और मुसलमान कवलित कर रहे हैं। आर्यजाति, जिसे दुर्भाग्य से हिन्दू जाति का नाम भी दिया गया था, पादरियों और मौलवियों के धावों के सामने डांवाडोल हो रही थी। स्वामीजी आर्य जाति के रक्षक बने और ईसाइयत तथा इस्लाम की बाढ़ को रोकने का यत्न करने लगे।

एक दूसरे प्रकार से भी इसी बात को समझाया जा सकता है। स्वामीजी मनुष्य-मात्र के हितैषी थे; वह चाहते थे कि हिन्दू हो या बौद्ध, ईसाई हो या मुसलमान, भारतवासी हो

या विदेशी—मनुष्यमात्र वैदिक धर्म को स्वीकार करे। अन्यधर्मावलम्बियों को धर्म-सम्बन्धी भ्रान्तियों में से निकालने के लिये ही स्वामीजी ने खण्डन का कार्य आरम्भ किया था। खण्डन का उद्देश्य आर्यजाति की रक्षा नहीं था, अपितु अन्य मतवादियों का खण्डन ही था। कार्य एक था—दो व्याख्याओं के अनुसार उस पर भिन्न भिन्न प्रकार का प्रकाश पड़ता है। इसी विषय पर पूरा विचार तो हम एक जुदा परिच्छेद में करेंगे, यहां केवल इतना विचारणीय है कि सुधार की दूसरी और तीसरी दशाओं में जो भेद था, उसका निमित्त क्या था? क्या उसका निमित्त स्वामीजी का केवल आर्य जाति के प्रति प्रेम था या मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम था? यदि ईसाइयों और मुसलमानों का खण्डन केवल आर्य जाति को उनके आक्रमणों से बचाने के लिये ही था तो खण्डन का निमित्त केवल आर्यजाति के प्रति प्रेम होगा, परन्तु यदि खण्डन का निमित्त ईसाई मुसलमानों को वैदिक-धर्मी बनाना था तो निमित्त मनुष्य-प्रेम होगा।

लेखक की सम्मति है कि स्वामीजी ने दोनों ही निमित्तों से ईसाइयों तथा मुसलमानों का खण्डन किया। उन्हें मनुष्यमात्र से प्रेम था परन्तु आर्यजाति से विशेष प्रेम था। उस प्रेम का केवल यह कारण नहीं था कि वह आर्यजाति में उत्पन्न हुए थे, यह भी कारण था कि वह आर्यजाति को शेष सब जातियों की अपेक्षा सत्य के अधिक पास समझते थे। वेद धर्म का स्रोत है, और केवल आर्यजाति ही है जो वेदों को प्रामाणिक मानती है। जिन आर्ष ग्रन्थों में स्वामीजी वेद के आशय को ढूंढ़ते थे, उनका

खजाना भी आर्यजाति के ही पास था। वैदिक-संस्कार, वैदिक-ज्ञान, वैदिक-धर्म—सब के अवशेप यदि कहीं थे, तो आयजाति में थे। इस कारण स्पष्ट है कि जहां आर्यजाति को शुद्ध वैदिक धर्म पर लाने के लिये केवल सुधार की आवश्यकता थी, वहां ईसाइयत और इस्लाम का मूलसहित परिवर्तन किये बिना वैदिक-धर्म के लिये स्थान नहीं निकाला जा सकता था? एक जगह केवल काट छांट चाहिये, वहां दूसरी जगह उखाड़ना आवश्यक था। आर्यजाति की रक्षा और सुधारणा आवश्यक थी, परन्तु अन्यमतवादों का रूप–परिवर्तन अभीष्ट था। स्वामीजी ने आर्यजाति की रक्षा और सुधारणा करते हुए ईसाइयत और इस्लाम को रास्ते पर खड़ा पाया। वह धर्म आर्यजाति की सत्ता को नष्ट करने की धमकी दे रहे थे। आर्यजाति को सुधार कर, शुद्ध वैदिक बनाकर, स्वामीजी संसार की भलाईका साधन बनाना चाहते थे। आर्यजाति के लिये भयानक समझ कर आर्यजाति के रक्षक ने ईसाइयत और इस्लाम पर प्रत्याक्रमण किये। इससे मनुष्यमात्र का भला ही अभीष्ट था। प्रथम तो स्वामीजी समझते थे कि यदि आर्यजाति के विचारों का पूरा सुधार हो जाय तो २३ करोड़ से अधिक वैदिक-धर्मी सारे संसार को सच्चे धर्म की शरण में ला सकते हैं। वह देखते थे कि आर्यजाति के अधूरे वैदिकधर्मी अन्य प्रभावों में आकर बिल्कुल अवैदिक और अनार्य बन रहे हैं। मनुष्य जाति की भलाई इसी में थी कि आर्यजाति अपने रूप को समझ कर संसार को शुद्ध धर्म का प्रकाश दे सके। दूसरे स्वामीजी चाहते थे कि अपने अपने मतों

की निर्बलतायें देखकर ईसाई, मुसलमान आदि वैदिक धर्म की शरण में आसकें। स्वामीजी का आर्यजाति के प्रति पक्षपात था परन्तु वह गुणों का पक्षपात था। भारवि कवि ने कहा है—

वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजा-
म्भवन्ति भव्येष्विह पक्षपाताः।

स्वामी दयानन्द आर्य-जाति को अपना बिगड़ा हुआ किला समझते थे और अन्य धर्मावलम्बिनी जातियों को उस किले पर आक्रमण करने वाले प्रतिपक्षी। यह विचार समय के साथ धीरे धीरे परिपक्वता को प्राप्त हुआ। जिस समयका हम वर्णन कर रहे हैं उस समय स्वामी जी रक्षा, सुधार और प्रत्याक्रमण के पूरे कार्यक्रम को तैयार कर चुके थे। वह इससमय युद्ध की गहराई में थे। सब प्रतिपक्षी चौकन्ने हो चुके थे, और स्वामीजी से सीखे हुए अस्त्रों की सहायता से उनके प्रत्याक्रमणों को रोकने का उद्योग कर रहे थे।

इस प्रकार प्रत्याक्रमण द्वारा आक्रमणों को रोकते हुए धर्म-महारथी २२ अक्टूबर १८७४ को प्रयाग से बम्बई पहुंचे। देर से स्वामीजी के पास बम्बई-निवासियों के निमन्त्रण आ रहे थे। बम्बई के समाज-सुधारक सुधार-सम्बन्धी कार्य को उन्नति देने के लिये व्यग्र थे। इस कारण उनका आग्रह था कि स्वामी जी शीघ्र ही बम्बई पधारें। स्वामीजी के भक्त पं० सेवकलाल जी आदि ने पहले ही से काशी शास्त्रार्थ की प्रतियां शहरमें बंटवाकर प्रसिद्ध करदी थीं। स्टेशन पर स्वामीजी का अच्छा स्वागत हुआ। बालुकेश्वर पर एक उत्तम आश्रम में स्वामीजी के निवास का

प्रबन्ध किया गया था। वहां पर प्रतिदिन धर्म-चर्चा होने लगी। बम्बई में वल्लभ सम्प्रदाय का विशेष जोर है। स्वामीजी ने उसी का खण्डन आरम्भ किया। वल्लभ सम्प्रदाय की लीला का उल्लेख अब आवश्यक नहीं रहा। सम्प्रदाय के गुरुओं की घृणास्पद लीलाओं से अब देश काफी परिचित हो चुका है। स्वामीजी ने जब बम्बई में उनके आचरण देखे और सुने, तो उनके हृदय में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। उन्होंने बलपूर्वक खण्डन प्रारम्भ किया। वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों में हलचल पैदा होगई। गोकुलिये गोसाइयों में जीवनजी गोसांई बहुत चलता पुर्जा था। उसने स्वामीजी के सेवकों तक को बहकाकर विषद्वारा धर्म की आवाज़ को शान्त करने का यत्न किया, परन्तु स्वामीजी को रहस्य का पता लग गया और जीवन जी का कण्टक दूर न हुआ। कुछ लोग स्वामीजी का पीछा करने लगे। वह छाया के समान पीछे रहने लगे ताकि अवसर पाकर कांटे को उखाड़ दें—परन्तु सफलता प्राप्त न हुई। स्वामीजी निर्भय तो थे, परन्तु असावधान नहीं थे। बहुत सी आपत्तियां तो उनकी सावधानता से ही दूर हो जाती थीं। कई लोग समझते हैं कि आंखें बन्द करके चलने का नाम निर्भयता है, स्वामीजी उनमें से नहीं थे। भय को न देखना निर्भयता नहीं, भय को देखना और देखकर भी कर्तव्य के मार्ग से न विचलना ही निर्भयता के नाम से पुकारा जा सकता है। सावधानता स्वामीजी का विशेष गुण था। अपने डेरे की छोटी से छोटी बात पर स्वामीजी की दृष्टि रहती थी। बम्बई के एक सेठ ने दुकान पर कह छोड़ा था कि 'स्वामीजी का

नौकर खाने-पीने का जो सामान लेने आवे वह दे दिया जाय और बिल मेरे पास भेज दिया जाय।' एक बार जांच करने पर स्वामीजी को पता चला कि आवश्यकता से सात गुणा अधिक सामान डेरे पर आया है। नौकर लोग अधिक सामान को बेचकर अपनी मुट्ठी गर्म कर रहे हैं। स्वामीजी ने दो अपराधी नौकरों को सेवा से पृथक् कर दिया।

इस समय स्वामी जी के अनुयायियों की संख्या हजारों से अधिक हो चुकी थी। सुधरे हुए विचारों के लोग देश भर में फैले हुए थे। वह लोग बिखरे हुए फूलों की भांति इधर उधर पड़े थे, उनकी माला तैयार नहीं हुई थी। सब के एकत्र न होने से शक्तियां बहुत फैली हुई थीं, उनका कोई केन्द्र नहीं था। इस अभाव को स्वामीजी के शिष्य चिरकाल से अनुभव कर रहे थे। बम्बई में बहुत से आर्य पुरुष स्वामीजी के पास आये और आर्यों का एक सङ्गठन बनाने के विषय में प्रार्थना की। देर तक विचार होता रहा। विशेष चिन्ता नाम के विषय में थी। स्वामीजी ने 'आर्य समाज' नाम उपस्थित किया, जो आर्य पुरुषों के हृदयों के ऐन अनुकूल था। स्वामी दयानन्द आर्य-जाति के सुधारक और रक्षक थे, वह आर्यत्व के पोषक और प्रतिनिधि थे। 'आर्यसमाज' नाम इसी बात को सूचित करता है। यह नाम सभी आर्य पुरुषों के हृदयों में ठीक जंचा, और आर्य-समाज बनाने की तैयारियां होने लगीं।

हरेक समाज के लिये कोई न कोई आधार चाहिये। आर्यसमाज का मूल वेद हैं, परन्तु अभी तक वह अगम्य सागर थे, जिन तक पहुंचना किसी आर्य-पुरुष की शक्ति में नहीं था।

अभी वह समय नहीं आया था कि वेदों के आधार पर ही आर्य-समाज की स्थापना करदी जाती। आधार में रखने के लिये एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी जो लोगों की समझ में आ सके, ताकि प्रत्येक आर्य-पुरुष आर्यसमाज में आने से पूर्व जान सके कि किन सिद्धान्तों का मानने वाला पुरुष आर्यसमाज में प्रविष्ट हो सकता है। सौभाग्य से इस समय ऐसा ग्रन्थ भी तैयार हो चुका था। जब स्वामीजी अलीगढ़ में प्रचार कर रहे थे, तब राजा जयकृष्णदासजी ने प्रार्थना की थी कि एक ऐसा ग्रन्थ प्रकाशित कर दिया जाय जिसमें सब सिद्धान्तों का समावेश हो। स्वामीजी ने उस प्रस्ताव को स्वीकार करके अपने व्याख्यानों का संग्रह करा लिया और वह 'सत्यार्थप्रकाश' के नाम से प्रकाशित हुआ। इससमय 'सत्यार्थ-प्रकाश' प्रथम वार प्रकाशित हो चुका था।

समय अनुकूल था परन्तु स्वामीजी को शीघ्र ही बम्बई से सूरत जाना पड़ा। इससे कुछ समय के लिये समाज की स्थापना विलम्बित होगई। २४ नवम्बर १८७४ से यह परामर्श आरम्भ हुआ था, लगभग ६० सज्जनों ने सभासद् बनने की प्रतिज्ञा की थी। दिसम्बर में स्वामीजी को बम्बई जाना पड़ा। ३ मास के लगभग गुजरात प्रान्त में प्रचार करने के अनन्तर जब जनवरी में फिर स्वामीजी बम्बई गये, तब आर्यसमाज की स्थापना का प्रस्ताव अधिक उत्साह से उठाया गया। इस वार यत्न शीघ्र ही सफल होगया। राजमान्य राजश्री पानाचन्द्र आनन्दजी सर्व सम्मति से नियमों का मसविदा बनाने के लिये नियत किये गये।

उनके बनाये हुए मसविदे पर विचार करके चैत्र सुदी ५ सं० १६३२ तदनुसार १० अप्रैल १८७५ के दिन, गिरगांव में, डा० मानिकचन्द्रजी की वाटिका में नियमपूर्वक आर्यसमाज की स्थापना हुई। आर्यसमाज के २८ नियम बनाये गये। वर्तमान १० नियम लाहौर में पीछे से बनाये गये थे। प्रारम्भिक २८ नियमों में सभी कुछ है; उद्देश्य, नियम, उपनियम आदि सब कुछ उनमें आगये हैं। यह पहला अवसर था कि स्वामी दयानन्द जिन सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहते थे, उनके मानने वाले लोग एक सूत्र में पिरोये जाकर संगठित हुए। आर्यसमाज की नींव में कौन कौन से विचार कार्य कर रहे हैं—यह जानना हो तो इन प्रारम्भिक २८ नियमों का विवेचन आवश्यक है। ऐसा विवेचन मनोरंजकता से भी खाली न होगा।

बम्बई आर्यसमाज का तत्कालीन पहला नियम बड़ी स्पष्टता से आर्यसमाज के उद्देश्य को प्रकाशित करता है। वह कहता है—'सब मनुष्यों के हितार्थ आर्यसमाज का होना आवश्यक है'—आर्यसमाज का उद्देश्य सब मनुष्यों का हित करना है। यह विस्तृत उद्देश्य है, जिससे आर्यसमाज की स्थापना हुई है। संसार में इससे बढ़ कर व्यापक उद्देश्य नहीं हो सकता। दूसरा नियम बताता है कि 'इस समाज में मुख्य स्वतः प्रमाण वेदों को ही माना जायगा'—इस वाक्य में आर्यसमाज का धार्मिक आधार स्पष्ट रूप से बता दिया गया है। केवल वेद ही स्वतः प्रमाण और धर्म के मूल आधार हैं — अन्य सब ग्रन्थ चाहे वह आर्ष ही क्यों न हों — जहां तक वेदानुकूल

न हों, शब्द-प्रमाण नहीं है। यह नियम बड़ा स्पष्ट है। यदि इसके महत्व पर पूरा ध्यान दिया जाय तो आर्यसमाज की वृत्तियां शाखाओं में बिखरने से बचाई जा सकती हैं। दूसरे और चौथे नियम में प्रधान और शाखाभेद से आर्यसमाजों के दो भेद किये गये हैं। इन नियमों में प्रतिनिधि-सभा और सार्वदेशिक सभा आदि विस्तृत संगठनों की कल्पना नहीं है। पांचवां नियम समाज में संस्कृत और आर्यभाषा के पुस्तकालय की आवश्यकता बताता है और यह भी आशा दिलाता है कि समाज की ओर से 'आर्य-प्रकाश' नाम का साप्ताहिक पत्र निकलेगा। यह नियम — तथा आगे के कुछ और नियम भी— इन सम्पूर्ण नियमों को एकदेशी बना देते हैं। इन नियमों को बनाते हुए बम्बई की दशाओं को विशेषतया ध्यान में रखा गया था। ७वें नियम में केवल दो अधिकारी नियत करने का निर्देश है। एक प्रधान — दूसरे मन्त्री। अभी उपप्रधान, उपमन्त्री आदि की रचना की आवश्यकता नहीं समझी गई। इस नियम का दूसरा भाग बड़े महत्व का है। पुरुष और स्त्री दोनों ही समाज के सभासद् बन सकेंगे। यह उदार नियम आर्यसमाजों में प्रायः उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। स्त्री समाजें जुदा खोल दी जायं — इससे शायद उतनी हानि न हो, जितनी मुख्य आर्यसमाज से स्त्रियों का बहिष्कार करने से होती है। स्त्रियों का दृष्टिक्षेत्र बहुत संकुचित हो जाता है। उनका ज्ञान पूरी तरह बढ़ने नहीं पाता। वह अपनी परिधि से बाहिर नहीं निकलने पातीं। यदि पुरुष और स्त्री

एक ही धार्मिक संगठन में शामिल हों, इकट्ठे बैठें, कार्यकारिणी में मिल कर इकट्ठे ही आवश्यक विषयों पर विचार करें, तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि स्त्रियों के ज्ञान में बहुत वृद्धि हो, आर्यसमाज की शक्ति दुगनी हो जाय और कार्य को पुष्टि मिले।

आंठवां नियम आर्यसमाज के सभासद् की योग्यता का वर्णन करता है। 'इस समाज में सत्पुरुष, सदाचारी और परोपकारी सभासद् लिये जायंगे।' यद्यपि देखने में यह नियम छोटा और अपर्याप्त सा दिखाई देता है परन्तु आश्चर्य है कि इस नियम में ऋषि का हृदय स्पष्टता से प्रतिबिम्बित है। समाज का सभासद् सत्पुरुष हो, सदाचारी हो — अर्थात् आर्य आचरणों वाला हो। आर्य सभासद् बनने के लिए श्रेष्ठ आचरण को मुख्य माना गया है। वर्तमान १० नियमों में सदाचार की चर्चा इतनी स्पष्टता से नहीं है। यही कारण है कि कभी-कभी 'करने' की अपेक्षा 'मानने' की महिमा अधिक बढ़ा दी जाती है। प्रारम्भिक नियम 'करने' की महिमा अधिक मानते थे। दुराचारी, असत्पुरुष क्षण भर भी समाज का सभासद् नहीं रहना चाहिये—बम्बई वाले नियमों का यह सार है। १०वां नियम सातवें दिन सत्संग करने का आदेश करता है। पहले यह सत्संग शनिवार को होता था, पीछे से अधिक अनुकूलता देख कर रविवार को होने लगा।

११ वां नियम कार्यक्रम का प्रतिपादन करता है। कार्यक्रम में गान, मंत्रपाठ मन्त्रों की व्याख्या आदि के अतिरिक्त

परमेश्वर, सत्यधर्म, सत्यनीति, सत्य उपदेश आदि का प्रतिपादन है। इस नियम में साप्ताहिक सत्संग के क्षेत्र-विस्तार का दिग्दर्शन करा दिया गया है। सत्यधर्म और सत्यनीति को पृथक् रखा गया है। सत्यधर्म सिद्धान्त रूपी धर्म है और उसका व्यावहारिक प्रयोग सत्यनीति कहलाता है। आर्यसमाज में केवल सिद्धान्तों पर ही विचार न होगा, उनके व्यावहारिक प्रयोग पर भी विचार किया जायगा। जो लोग यह समझते हैं कि आर्यसमाज में केवल मूल सिद्धान्तों पर ही विचार होता रहे, उनके व्यावहारिक प्रयोग पर कोई ध्यान न दिया जाय, वह ११वें नियम पर ध्यान देंगे तो उसका सन्देह दूर हो जायगा। १२वे नियम में आय का शतांश चन्दे के रूप में देने का विधान रखा गया है और बताया गया है कि चन्दे की आमदनी से 'आयसमाज' 'आर्य-विद्यालय' और 'आर्य-समाचारपत्र' चलाये जायं। 'आर्य-विद्यालय' का विचार आर्यसमाज की आधार-शिला रखने के साथ ही उत्पन्न हो गया था, यह कोई नया समारोह नहीं है। स्वामीजी का यह दृढ़ आशाय प्रतीत होता है कि आर्य-पुरुषों की सन्तान को शिक्षित करने के लिए आर्य-विद्यालय खोले जायं। १६वां नियम आर्य-विद्यालय के उद्देश्य को भी अधिक स्पष्ट करता है। उसमें आर्य-विद्यालय का यह कार्यक्रम बताया गया है कि 'आर्यविद्यालय' में वेदादि सनातन आर्यग्रन्थों का पठन-पाठन हुआ करेगा और वेदोक्त रीति से ही सत्य शिक्षा सब पुरुष और स्त्रियों को दी जायगी।' इस नियम का अभिप्राय स्पष्ट है। आर्यविद्यालय का उद्देश्य आर्यसन्तान को

वैदिक शिक्षा देना समझा गया था, न कि केवल प्रचारक बनाना। १४ वें और १५ वें नियम में वैदिक स्तुति, प्रार्थना, उपासना के अतिरिक्त संस्कारों का करना आर्यमात्र के लिए आवश्यक बताया गया है। १७ वां नियम बड़े महत्व का है। उसमें एक बड़ा उच्च सिद्धान्त बतलाया गया है। इससमय और शायद सदा प्रत्येक देश में दो प्रकार के विचारक रहे हैं। एक वह जो देश को सब भूमण्डल के देशों में ऊंचा मान कर केवल उसी की भलाई को अपने जीवन का लक्ष्य मान लेते हैं। दूसरे वह जो विश्वहित के विचार को ऊंचा रख कर देशहित को एक संकुचित भाव मानते हैं। १७वें नियम में बड़ी सुन्दरता से दोनों को मिला दिया गया है। नियम यह है—

"इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जायगा—एक परमार्थ, दूसरा व्यवहार; इन दोनों का शोधन तथा सब संसार के हित की उन्नति की जावेगी"

स्वदेश की उपेक्षा नहीं की गई, परन्तु उसका अन्तिम लक्ष्य संसार का हित करना रखा गया है। स्वदेश का हित प्रत्येक देशवासी का कर्तव्य है। उसके लिए निश्रेयस और अभ्युदय, परमार्थ और व्यवहार दोनों ही आवश्यक हैं। केवल भारतवासी नहीं, . सभी देशों के निवासियों के लिए यह नियम रखा गया है। सब अपने देश के हित में यत्नवान् हों — परन्तु देशहित का भी अन्तिम लक्ष्य विश्व-हित हो। विश्व-हित की भावना के बिना स्वदेशहित एक निर्मूल ममता है और स्वदेश-

हित के बिना विश्वहित के साधन का यत्न चांद को पकड़ने के यत्न के समान है। १८ से २५ तक के नियम कार्यकर्त्ताओं को प्रबन्ध-सम्बन्धी निर्देश करते हैं । २६ वें नियम में एक बहुत छोटी परन्तु महत्वपूर्ण बात है । जब तक आर्यसमाजस्थ नौकर मिलना सम्भव हो; उससे बाहिर का नौकर न रखा जाय । शेष नियमों में कोई विशेष साम्प्रदायिक बू नहीं है, परन्तु इस नियम में कुछ थोड़ा-सा साम्प्रदायिक भाव पाया जाता है । इतने उदार नियमों में यह नियम कुछ अनुदार-सा प्रतीत होगा, परन्तु यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय कि हिन्दूसमाज में द्विजेतरों की कैसी दुर्दशा थी, और यह भी देखा जाये कि उनकी दशा सुधारने का एक यह भी उपाय है कि चाहे जाति में कोई हो, यदि वह आर्य बन गया या उसे सेवक बनाने से किसी आर्य पुरुष को संकोच न हो तो समझ में आ जायगा कि इसमें केवल साम्प्रदायिकता ही कारण नहीं है, सेवक-समाज का हित भी कारण है । इस्लाम ने प्रारम्भ में गुलामों की दशा को सुधारने का जो उद्योग किया था, उसे दृष्टि में रखते हुए इस नियम पर विचार किया जाय तो नियम के औचित्य पर विश्वास करना कठिन नहीं होगा । २८ वें नियम में, नियमों के घटाने-बढ़ाने के लिये सब श्रेष्ठ सभासदों का सलाह करना आवश्यक बताया गया है ।

यह बम्बई के आर्यसमाज का संगठन है । इसमें सन्देह नहीं कि यह कई अंशों में अपूर्ण है । विशेषतया कार्य में आने वाले व्यावहारिक नियमों का बहुत अभाव है । बहु-

सम्मति से निश्चय हो, या सर्वसम्मति से; नियम परिवर्तन के लिए कितना बहुमत होना आवश्यक है; चुनाव कितने समय पीछे हो; इत्यादि व्यावहारिक बातें नियमों में से छूट गई हैं। यह भी नहीं कि यह केवल शुद्ध उद्देश्यों या मूल सिद्धान्तों का ही वर्णन हो, इसमें कई एक व्यावहारिक नियम भी विद्यमान है, परन्तु वह अपूर्ण और अस्पष्ट हैं। यह ठीक है, तो भी यह कहने में कुछ अत्युक्ति नहीं है कि इन नियमों में स्वामीजी के हृदय का आशय अधिक स्पष्टता से प्रतिबिम्बित है। उद्देश्य का संक्षेप में परन्तु बड़ी स्फुटता से प्रतिपादन है। शेष नियम भी स्वामीजी के आशय को बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त करते हैं।

एक बात और है। इन नियमों पर ब्राह्मो-समाज के संगठन का प्रभाव स्पष्ट है—सिद्धान्तों का नहीं अपितु कार्य सम्बन्धी व्यावहारिक संगठन का। इसमें कुछ आश्चर्य भी नहीं है। यह असन्दिग्ध बात है कि स्वामीजी के सिद्धान्तों का निर्माण बिल्कुल स्वतन्त्र रीति से हुआ था। वह किसी के अनुकरण में नहीं था — वह एक ज्ञानी और पर्युत्सुक हृदय का विकास था, परन्तु प्रतीत होता है कि समाज के संगठन का विचार उतना अपेक्षारहित नहीं था। बम्बई के निवासी स्वामीजी के पास गये और समाज की स्थापना के सम्बन्ध में निवेदन किया। जिन लोगों ने स्वामीजी को दिल्ली में निमन्त्रण दिया था, उनमें बहुत से प्रार्थना-समाजी थे, और प्रार्थना समाज ब्राह्मोसमाज की एक शाखामात्र था। उन्हीं लोगों ने स्वामीजी

से समाज बनाने की प्रार्थना की और संगठन तय्यार किया। यह बातें ध्यान में रखें तो संगठन की कई विशेषतायें समझ में आजाती हैं। साप्ताहिक सत्संग, गृहस्थी प्रचारक आदि संस्थायें, जो नई प्रतीत होती हैं नई नहीं है। इन पर पहले का प्रभाव स्पष्ट है। कई लोगों का विचार होगा कि नियमों में पहले समाजों की प्रचलित प्रथाओं के प्रभाव को मान लेने से समाज का या इसके संस्थापक महापुरुष का महत्व कम हो जायगा। यह भ्रममात्र है। संस्थायें और संगठन समय की सन्तानें हैं, वह तात्कालिक प्रभावों से बिल्कुल स्वतन्त्र नहीं रह सकते। उनका गौरव इसमें नहीं कि वह बिना जड़ के वृक्ष, बिना नींव के भवन या बिना ऋतु के फूल हैं; बल्कि गौरव इसमें है कि वह समय की आवश्यकता को पूरा करते हैं, जाति की वास्तविक बीमारी का ठीक इलाज करते हैं और समय का ठीक आलाप सुनाते हैं। यद्यपि आर्यसमाज के व्यावहारिक संगठन पर ब्राह्मो समाज का प्रभाव था, तो भी हम अगले पृष्ठों में देखेंगे कि आर्यसमाज ब्राह्मो समाज की अपेक्षा अधिक समयानुकूल, जाति की आवश्यकताओं को पूरा करने वाला और उपयोगी था। इस कारण जाति ने उसे अधिक व्यग्रता से देखा परन्तु उत्सुकता और उत्साह से ग्रहण किया।

काठियावाड़ और पूना में, इन लगभग ५ महीनों में खूब प्रचार हुआ। बम्बई तो स्वामीजी के प्रचार से हिल गया। वल्लभ सम्प्रदाय के गुरु, शंकाओं से घबरा कर बम्बई छोड़ने तक को बाधित हो गये। मूर्ति-पूजा के बेतरह खण्डन से ब्राह्मण

मण्डली विचलित हो गई। प्रजा के तंग करने से मण्डली को एक बार शास्त्रार्थ का आयोजन भी करना पड़ा। पहला शास्त्रार्थ बम्बई के पुस्तकालय में हुआ। दूसरा शास्त्रार्थ स्वामीजी के काठियावाड़ से लौटकर फिर बम्बई आने पर, होकाभाई जीवनजी के मकान पर पं० रामलालजी शास्त्री के साथ हुआ। दोनों में विवाद का विषय यह था कि 'मूर्ति पूजा वेदों में है या नहीं' ? जहां बनारस की पंडित-मंडली के पांव उखड़ गये, वहां बम्बई के शास्त्री क्या कर सकते थे ? मूर्तिपूजा वेदों से सिद्ध न हो सकी। स्वामीजी जब बम्बई से कुछ दिनों के लिये बड़ौदे गये हुए थे तब पं० कमलनयन शास्त्री ने शास्त्रार्थ का हल्ला किया। स्वामीजी बम्बई लौट आये। काउसजी फ्रामजी हाल में शास्त्रार्थ हुआ। बम्बई में ईसाइयों के साथ भी कुछ झपट हुई। बड़े पादरी विलसन साहब् विद्वान् पुरुष थे। स्वामीजी ने उन्हें धर्म-विचार के लिये आमन्त्रित किया। कोई उत्तर न पाकर स्वामीजी स्वयं पादरी साहिब के पास पहुंचे, परन्तु फिर भी उन्हें धर्मविचार के लिये तैयार न कर सके। बड़े आदमियों को कोई न कोई कार्य सदा रहा ही करते हैं। स्वामीजी के साथ धर्मविचार जैसी अप्रिय परीक्षा से, पादरी साहिब को वैसे ही एक आवश्यक कार्य ने छुटकारा दिला दिया।

गुजरात में भ्रमण करते हुए स्वामीजी ने सूरत, भड़ौंच आदि में धर्मप्रचार किया, आर्य-पुरुषों में नये जीवन का सञ्चार किया। भड़ौंच से स्वामीजी दिसम्बर मास में अहमदाबाद गये। साबरमती के किनारे माणिकेश्वर महादेव के

मन्दिर में स्वामीजी का निवास-स्थान था। अहमदाबाद में भी पण्डित-मण्डली से शास्त्रार्थ हुआ। बड़ा उत्तम प्रभाव रहा, और शीघ्र ही वहां आर्यसमाज की स्थापना हो गई। ट्रेनिङ्ग कालेज राजकोट के प्रिन्सिपल श्री हरगोविन्ददासजी के आमंत्रण पर स्वामीजी राजकोट गये। राजकोट से फिर अहमदाबाद ठहरते हुये आप बलसार और बसई पधारे। इस प्रकार थोड़े ही समय में प्रान्त के बड़े-बड़े स्थानों पर धर्मामृत-वर्षा कर आप जनवरी में बम्बई लौट गये। आर्यसमाज की स्थापना इसी अवसर पर हुई। बम्बई से फिर अहमदाबाद होते हुए स्वामीजी बड़ोदा पधारे।

बम्बई में स्वामीजी ने संस्कार-विधि और आर्याभिविनय तैयार करा कर छपवा दिये थे। ग्रन्थ-प्रकाशन का कार्य जोरों से जारी हो चुका था। सत्यार्थप्रकाश और संस्कार-विधि यह दो बड़े और आर्यसमाज के मूलभूत ग्रन्थ तैयार हो चुके थे, और वेदभाष्य के प्रकाशित होने की तैयारियां हो रही थीं। आर्याभिविनय, वेदान्त ध्वान्त-निवारण आदि अनेक छोटी-छोटी पुस्तिकायें बीच-बीच में आवश्यकतानुसार प्रकाशित होती रहती थीं।

बड़ोदा में स्वामीजी राज्य के अतिथि थे। आपका आसन विश्वामित्री नदी के किनारे महादेवजी के मन्दिर में जमा। वहां आपके अनेक व्याख्यान हुए। व्याख्यानों में दीवान आदि ऊंचे राज्याधिकारी उपस्थित होते थे। पण्डित-मण्डली भी व्याख्यानों में आती थी। श्रोता सभी जातियों

के होते थे। जब स्वामीजी वेद-मन्त्रों का सस्वर उच्चारण करते थे, तब पण्डित लोग कानों में उङ्गली देकर भागने को तय्यार हो जाते थे। कहते हैं कि बड़ोदा में पण्डितों के साथ एक शास्त्रार्थ का प्रसंग चलने पर, नमूना दिखाने के लिये स्वामीजी ने कुछ समय तक कठिन संस्कृत भी बोली थी, जिसे पण्डित लोग न समझ सके। सामान्यतया स्वामीजी का संस्कृत बोलने का ढङ्ग बहुत ही सरल था। वह बड़ी सरल भाषा का प्रयोग किया करते थे। जिन्हें संस्कृत में कुछ भी प्रवेश था, वह उनके आशय को समझ जाते थे। पंडितों के आग्रह पर यहां स्वामीजी ने कुछ समय तक कठिन संस्कृत का भी भाषण किया, जिससे आक्षेपकर्ताओं के मुंह बन्द हो गये। राजदीवान माधवराव की प्रार्थना पर स्वामीजी ने राजधर्म पर भी एक व्याख्यान दिया, जिसमें अंग्रेजी न जानने वाले पण्डित के मुख से राजनीति के गम्भीर सिद्धान्तों को व्याख्या सुनकर ऊंचे अधिकारी दंग रह गये। बड़ोदा से स्वामीजी को पं० कमलनयन से शास्त्रार्थ करने के लिये फिर बम्बई जाना पड़ा।

१८७५ ई० के जुलाई मास के आरम्भ में प्रसिद्ध सुधारक श्रीयुत महादेव गोविन्द रानडे के निमन्त्रण पर स्वामीजी पूना गये। पूना महाराष्ट्र का केन्द्र है, और सनातनधर्म का गढ़ है। पूना के ब्राह्मण राज्यों की स्थापना कर चुके हैं और राजाओं का शासन कर चुके हैं। उनसे भिड़ना साहस का कार्य था। पूना में स्वामीजी के १५ बड़े प्रभाव-

शाली व्याख्यान हुए। यह व्याख्यान संग्रह-रूप में छप भी चुके हैं। पूना गढ़ में इन व्याख्यानों के प्रहारों ने हलचल मचा दी। रानाडे महाशय के उद्योग से शहर में स्वामीजी की सवारी निकली। एक पालकी में रखे हुए वेद आगे-आगे थे और स्वामीजी को लिये हाथी पीछे-पीछे था। सवारी बड़ी धूमधाम से निकली। इसके जवाब में विरोधियों ने, जिनमें कई महाराष्ट्र के रत्न भी शामिल थे, गर्दभानन्द आचार्य की सवारी निकाली। एक आदमी का मुँह काला करके गधे पर बिठा दिया, ताली पीटते और कीच फेंकते हुए लोग साथ जाने लगे। बड़ा हुल्लड़ मचता रहा। स्वामीजी और उनके साथियों पर कींच फेंका गया। रानडे महाशय पर भी बहुत-सा कींच पड़ा। विरोधियों ने समझा कि वह इस प्रकार से सत्य-वादी के मुंह को सी सकेंगे, परन्तु उन्हें पता नहीं था कि यह मोम नहीं था, जो हाथ से मुड़ जाता। इस व्यवहार से स्वामीजी का तो क्या अपमान होना था, उल्टा आज तक भी उन्ही महानुभावों के शुभ कीर्तिचन्द्र पर कालिमा का एक धब्बा लगा हुआ है, जो और सब प्रकार से आदर के योग्य हैं।

ग्यारहवां परिच्छेद

उत्तर दिशा में धर्म की गूंज

—:[*]:—

१ जनवरी १८७७ ई० को दिल्ली में महारानी विक्टोरिया के भारत की महारानी उद्घोषित होने के

उपलक्ष में भारी दरबार होने को था। उसकी तैयारियां धूमधाम से हो रही थीं। दिल्ली में देश भर के राजे महाराजों के आने की आशा लग रही थी। स्वामी दयानन्दजी बम्बई से लौट कर संयुक्तप्रांत में भ्रमण कर रहे थे, उन्हें दरबार के समाचार मिले। जो व्यक्ति संसार भर को सत्य की बात सुनाने का बीड़ा उठाये हुए हो, उसे इससे अच्छा अवसर कहां हाथ आ सकता था। स्वामीजी के लिए मुख्यतया दो प्रलोभन थे। एक तो उनकी प्रबल इच्छा थी कि वह आर्यावर्त के राजाओं के हृदय में सच्चे आर्य धर्म के लिए प्रेम पैदा करने में सफल हों। उनकी भावना थी कि जब तक देश के रईस नहीं सुधरते तब तक प्रजा का सुधार नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार रईसों की दशा सुधारी जा सके तो सर्व साधारण की दशा में बिना विशेष परिश्रम के ही परिवर्तन किया जा सकता है। इसकारण उनकी अभिलाषा थी कि किसी प्रकार देश भर के नरेशों के कानों तक सत्य का संदेश पहुंचाया जाय। दरबार की ओर खेंचनेवाला दूसरा प्रलोभन यह था कि स्वामीजी देश में कार्य करने वाली अनेक शक्तियों को देख रहे थे। एक ओर ब्राह्मोसमाज था, जिसकी बागडोर उस समय बा० केशवचन्द्र सेन के हाथ में थी। दूसरी ओर सर सय्यद अहमद की चलाई हुई लहर थी, जिसका उद्देश्य मुसलमानों को जगाना था। शक्तियां थीं, परन्तु सब का उद्देश्य एक ही दिखाई देता था। एक ही सचाई का भिन्न-भिन्न रूप से प्रकाश हो रहा था — स्वामीजी की प्रतिभा केवल

भेदों को देखने वाली और काट-छांट करने वाली न थी, वह बड़े से बड़े भेद में समानता देखने की भी शक्ति रखती थी। स्वामीजी भेद प्रवृत्ति को ही उत्पन्न नहीं करना चाहते थे, बुराइयों के दूर हो जाने पर बची हुई भलाई के आधार पर सारी मनुष्य जाति को एकता के सूत्र में पिरो देने का भी संकल्प रखते थे। सत्यार्थप्रकाश का निम्नलिखित उद्धरण स्वामीजी के आशय को प्रकट करेगा।

(जिज्ञासु) इसकी परीक्षा कैसे हो ?

(आप्त) तू जाकर इन-इन बातों को पूछ, सब की एक सम्मति हो जायगी।

तब वह उन सहस्रों की मंडली के बीच में खड़ा होकर बोला कि 'सुनो सब लोगो ! सत्य-भाषण में धर्म है वा मिथ्या में ? सब एक स्वर होकर बोले कि सत्य-भाषण में धर्म और असत्य-भाषण में अधर्म है। वैसे ही विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्य-व्यवहार आदि में धर्म है वा अविद्या ब्रह्मचर्य न करने, व्यभिचार करने, कुसंग, असत्य व्यवहार छल-कपट, हिंसा परहानि करने आदि कामों में ? सबने एक मत होके कहा कि विद्यादि के ग्रहण में धर्म और अविद्यादि के ग्रहण में अधर्म। तब जिज्ञासु ने सब से कहा कि तुम इसी प्रकार सब जने एक मत हो सत्यधर्म की उन्नति और मिथ्यामार्ग की हानि क्यों नहीं करते हो ?"

इससे स्पष्ट है कि स्वामीजी केवल मतमतान्तरों के भेद को दिखा कर विरोधात्मक संसार की रचना करने वाले नहीं थे, उनका संकल्प था कि सर्वसम्मत व्यापक सचाइयों के आधार पर संसार भर का एक धर्म स्थापित किया जाय। दिल्ली के दरबार में भारतवर्ष के सब धार्मिक सुधारकों के इकट्ठे होने की आशा थी। स्वामीजी को यह अवसर बहुत उत्तम प्रतीत हुआ। जो लोग स्वामीजी को एक संकुचित सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में प्रकट करना चाहते हैं वह यदि इस उद्धरण और ऋषि जीवन के इस भाग को ध्यान से पढ़ेंगे तो उनका सन्देह दूर हो जायगा।

दिसम्बर मास के अन्त में स्वामी दयानन्दजी दिल्ली पहुंच गये, और शेरमल के अनारबाग में डेरा जमाया। मुंशी इन्द्रमणि आदि हितैषी लोग स्वामीजी के साथ ही ठहरे थे। इन दिनों स्वामीजी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पूर्ण कर चुके थे और वेद-भाष्य लिखाते थे। प्रचार का कार्य प्रतिदिन होता था। राजा-महाराजाओं के पंडित स्वामीजी के पास आते रहते थे। स्वामीजी ने अपने विचारों की सूचना प्रायः सब राजाओं के पास भेज दी थी। उन लोगों के हृदय में महात्मा के दर्शनों की इच्छा भी उत्पन्न होती थी, परन्तु ब्राह्मण लोग पीछे से रोकते रहते थे। वह बहकाने और स्वामीजी को नास्तिक बतलाकर दर्शन-जन्य पाप के चित्र खेंचने में लगे रहते थे। इन्दौर-नरेश ने यत्न किया था कि एक सभा में सब नरेश इकट्ठे हों और स्वामीजी के सिद्धान्तों का श्रवण करें। दिल्ली में राजा लोग सरकारी प्रोग्राम से ही छुट्टी नहीं पा सकते थे, उन्हें धर्मोपदेश सुनने की

फुर्सत कहां । कभी लाटसाहिब की हाजरी, कभी फौज का निरीक्षण, कभी जलूस, कभी थियेटर—इनसे फुर्सत पानी ही कठिन होती थी। राजाओं का जमाव न हो सका। स्वामीजी का विचार था कि देश के रईसों का कुछ सुधार कर सकें—कम से कम उनके कानों तक धर्म की ध्वनि पहुँचा दें, परन्तु कुछ देश का दौर्भाग्य और कुछ रईसों का कर्मफल—विचार फलीभूत न होसका।

दरबार के अवसर पर पहुँचने में स्वामीजी का दूसरा लक्ष्य यह था कि देश के भिन्न-भिन्न धार्मिक नेताओं को इकट्ठा करके परामर्श किया जाय और यदि सम्भव हो तो कोई ऐसा महानद ढूंढ लिया जाय, जिसमें सब सम्प्रदाय रूपी नाले मिला दिये जायं। सब सुधारक एक ही प्रकार से, एक ही स्वर से सुधार का यत्न करें, ताकि जो लोग प्रजा का सुधार कर रहे हैं वह आपस में मतभेद के कारण झगड़ते हुए दृष्टिगोचर न हों। स्वामीजी के निमन्त्रण पर बा० केशवचन्द्रसेन, सर सय्यद अहमद खां, मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, बा० नवीनचन्द्रराय, मुन्शी इन्द्रमणि और बा० हरिश्चन्द्र चिन्तामणि आदि महानुभाव स्वामीजी के स्थान पर एकत्र हुये। बा० केशवचन्द्र उस समय ब्राह्मो-समाज के चमकते सितारे थे। नवविधान अभी विख्यात नहीं हुआ था, परन्तु समाज की बागडोर उन्हीं के हाथों में थी। ब्राह्मोसमाज के दूसरे प्रतिनिधि बा० नवीनचन्द्रराय थे। राय महाशय पंजाब के ब्राह्मोसमाजों के प्राण थे। १६ वीं सदी में इस्लाम ने सर सय्यद की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली

नेता उत्पन्न नहीं किया। सर सय्यद का बल तलवार का नहीं था — लेखिनी का था, जिह्वा का था और बुद्धि का था। भारत के मुसलमानों को आपने नींद से उठाकर खड़ा कर दिया था। मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी सुधार का यत्न कर रहे थे और मुन्शी इन्द्रमणि मुसलमानों द्वारा हिन्दू धर्म पर किये हुए आक्षेपों का समाधान करके ख्याति पा रहे थे। बा० हरिश्चन्द्र चिन्तामणि उस समय बम्बई के प्रसिद्ध आर्यसमाजी थे। इस प्रकार यह छोटी सी सभा प्रतिनिधि स्वरूप समझी जा सकती थी। इसमें बंगाल, बम्बई युक्तप्रान्त और पंजाब के तथा दूसरी तरफ इस्लाम, ब्रह्मोसमाज, हिन्दू समाज और आर्यसमाज के प्रतिनिधि विद्यमान थे। सभा में स्वामीजी ने अपना विचार उपस्थित किया। विचार का सार यह था कि देश का अभ्युदय और मनुष्य का कल्याण तब तक नहीं हो सकता, जब तक देश भर का एक धर्म न हो जाय। वह एक धर्म वैदिक-धर्म है। यदि उस पर कोई आक्षेप या शंका हो तो स्वामीजी ने उसके समाधान के लिये अवसर देने की इच्छा प्रकट की। दुःख है कि इस सभा की पूरी कार्रवाई कहीं भी प्राप्त नहीं होती। यह सभा 'गुप्त' ही समझी गई होगी, क्योंकि इस समय के समाचारपत्रों में भी इसका कोई विस्तृत वर्णन नहीं पाया जाता। प्रतीत होता है कि सभा का जहाज वेद की निर्दोषता पर आकर टकराया। ब्राह्मोसमाजी और मुसलमान वेद की ईश्वरीयता और निर्दोषता को नहीं मान सके, इस कारण सभा विशेष परिणाम उत्पन्न किये बिना ही समाप्त होगई।

सभा के सन्मुख मुख्य कठिनाई वेद सम्बन्धी थी—यह अनुमान एक और घटना से भी पुष्ट होता है। बा० केशवचन्द्र-सेन ने दिल्ली में ही स्वामीजी से यह भी कहा था कि यदि आप वेद के नाम से धर्मप्रचार करने की जगह यह कहा करें कि "मैं कहता हूँ कि यह धर्म है" तो लोग अधिक सुगमता से विश्वास करलें और आपको अधिक सफलता हो। स्वामीजी ने इसका जो उत्तर दिया होगा, उसकी कल्पना ही की जा सकती है। एक मुसलमान और फिर कट्टर मुसलमान यह मान ले कि वेद ईश्वर की ओर से आये हैं और निर्दोष हैं — यह कैसे सम्भव था। यह समझ लेना कठिन नहीं है कि वेद के आधार पर धर्म की एकता करने के यत्न में बा० केशव-चन्द्रसेन या सर सय्यद अहमदखां से सहायता पाने के उद्देश्य से जो सभा की गई थी, वह क्यों असफल हुई।

दरबार की समाप्ति पर स्वामीजी ने दिल्ली से प्रस्थान किया। आप मेरठ होते हुए सहारनपुर गये। वहां स्वामीजी को सूचना मिली कि चांदपुर (जि० शाहजहांपुर) में एक भारी धार्मिक मेला है, जिसमें ईसाई और मुसलमान विद्वान् भी आयंगे और निर्णय होगा कि कौनसा धर्म सच्चा है। मेले के संस्थापकों का निमत्रण पहुँचते ही स्वामीजी ने उसे स्वीकार कर लिया।

मेला १८ मार्च सन् १८७७ से २० मार्च सन् १८७७ तक होने को था। मेले से ५ दिन पूर्व स्वामीजी चांदपुर पहुँच गये। १८ और १९ मार्च को मुसलमानों और ईसाइयों के प्रतिनिधि बड़े-बड़े मौलवी और पादरी भी आ पहुँचे। इस

मेले का नाम 'आनन्द स्वरूप' मेला था, और उद्देश्य धर्माधर्म का निर्णय था। यहां के कई रईसों ने ईसाई पादरियों के आक्रमणों से तंग आकर इस मेले का संगठन किया था, ताकि सत्य और असत्य का निर्णय एक ही वार हो जाय। धर्म-चर्चा आरम्भ होने से पहले कई लोग श्री स्वामीजी के पास आकर निवेदन करने लगे कि उत्तम हो यदि मुसलमान और हिन्दू आपस में मिलकर ईसाइयों को नीचा दिखायें। स्वामी-जी धर्म और सत्य में राजनीति और सुलहनामे की चालों को नहीं जानते थे। उनका उत्तर स्पष्ट था। उन्होंने कहा—"उचित मालूम होता है कि कोई किसी का पक्षपात न करे, बल्कि मेरी समझ में तो यह अच्छी बात है कि हम और मौलवी साहिब और पादरी साहिब प्रीति से मिलकर सत्य का निर्णय करें। किसी से विरोध करना उचित नहीं है।" इस मेले में जहां अन्य सम्प्रदाय वालों का उद्योग था कि किसी प्रकार विरोधी को नीचा दिखाया जाय, वहां स्वामीजी के हृदय में यह इच्छा प्रज्वलित हो रही थी कि सब लोग सत्य धर्म को समझ जायं।

दो दिन तक शास्त्र-चर्चा होती रही। मुसलमानों की ओर से देवबन्द के मदरसे के प्रसिद्ध मौलवी मुहम्मद कासिम और देहली के मौलवी सय्यद अब्दुल मन्सूर; ईसाइयों की ओर से पादरी स्काट, पादरी नवल, पादरी पार्कर; आर्य पुरुषों की ओर से स्वा० दयानन्द और मुन्शी इन्द्रमणि थे। कबीरपन्थी लोग तो इस मेले के संचालक ही थे। यह मेला एक अपूर्व

ही ढङ्ग का था। विचार भी उत्तम हुआ। पहले दिखाई देता था कि चर्चा के केन्द्रभूत ईसारी पादरी होंगे। समझा जाता था कि बेचारा हिन्दू-धर्म क्या खड़ा हो सकता है? परन्तु स्वामीजी की एक चौमोहरी चलते ही जनता की आंखें उधर फिर गईं, सबने समझ लिया कि इस अखाड़े का प्रधान मल्ल यह सन्यासी ही होगा। सर्वसाधारण पर स्वामीजी के प्रमाण और युक्तियों से सुभूषित भाषणों का खूब ही असर हुआ। पादरियों और मौलवियों को उस मेले में चेतावनी मिल गई कि आर्यधर्म एक जीवित पदार्थ है, मुर्दा नहीं।

इस मेले पर धर्म की तुरही सुनाकर धर्मयुद्ध के महारथी ने पंजाब की ओर प्रस्थान किया। पहला पड़ाव लुधियाने में हुआ। ३१ मार्च से १८ अप्रैल तक लुधियाने में धर्मोपदेश करके स्वामीजी १९ अप्रैल को लाहौर पहुँचे और दीवान रामचन्द्र के बाग में डेरा जमाया। सायंकाल को बावली साहिब में वैदिक धर्म पर व्याख्यान हुआ। उस व्याख्यान में पौराणिक लोगोंके लिये बहुत कुछ गर्म मसाला था—वह लोग बहुत असंतुष्ट हुए, और दीवान रत्नचन्द्र पर दवाव डाला गया कि वह स्वामीजी को अपने बाग से उठावें। स्वामीजी को एक हिन्दू कुलोत्पन्न व्यक्ति का स्थान छोड़कर डा० रहीमखां की कोठी पर आसन जमाना पड़ा। इसके पीछे खूब प्रचार हुआ। पंजाब का हृदय नर्म है, उस पर प्रभाव डालना सहल है। गुरु नानक को पञ्जाब के सर कर लेने में अधिक कष्ट नहीं हुआ था। पञ्जाबियोंके हृदय प्रभाव को शीघ्र ले लेते हैं — और फिर उसके अनुसार क्रिया और

प्रतिक्रिया के आरम्भ होने में भी देर नहीं लगती। पञ्जाबी के सोचने और करने में थोड़ा ही अन्तर है। अन्य प्रान्तों के लोग समझ ही नहीं सकते कि एक पंजाबी ने कब सोचा, कब कहा और कब किया। जितनी देर में उनका सोचना समाप्त होता है, उतने में पंजाबी कर डालता है। एक सुधारक को इससे अच्छा मैदान कहां मिल सकता है। स्वामीजी पंजाब में बहुत पीछे गये, परन्तु उन्हें वहां आशातीत सफलता हुई। उस सफलता में पहला कारण पंजाबियों के हृदयों की ग्रहणशीलता थी। दूसरा कारण यह भी था कि भारत के सीमाप्रान्त पर होने के कारण अधिक कट्टरपन या संकुचिता उनमें पहले से नहीं थी। स्वामीजी की दिव्यवाणी ने पंजाबियों के नर्म हृदयों पर बिजली का सा असर किया। अन्य प्रान्तों में वह जो कार्य महीने में न कर सके, पंजाब में उसे सप्ताहों में कर दिया।

जिस समय स्वामीजी पंजाब में आये, ईसाई पादरी पकी खेती को दोनों हाथों काट रहे थे। पंजाब का शिक्षित समाज ईसाइयों के पञ्जे में पड़ रहा था। थोड़ा-थोड़ा काम ब्राह्मोसमाज भी कर रहा था। कुछेक पठित लोग इकट्ठे होकर ब्रह्मोप्रार्थना भी कर लेते थे। स्वामीजी को पञ्जाब में विशेष युद्ध ईसाइयों से ही करना पड़ा। जहां कहीं भी वह गये, कई हिन्दू-युवकों को ईसाई होने से बचाया। आर्यसमाज से ईसाइयों का विद्वेषभाव, जिसने पीछे से बड़ा भयानक रूप पकड़ा, और गम्भीर परिणाम उत्पन्न किये, इसी समय से आरम्भ होता है।

ईसाई पादरी आर्यसमाज की बढ़ती को न सह सके; उन्होंने समझा कि आर्यसमाज उनके मुंह में से ग्रास छीन कर ले गया। पंजाब में स्वामी दयानन्दजी के आने और सफलता पाने के विषय में सबसे उत्तम यही वाक्य प्रयुक्त किये जा सकते हैं कि 'वह आये, उन्होंने देखा, और जीत लिया'।

स्वामीजी के हृदय में सत्य का जो स्थान था, वह दूसरी किसी वस्तु का नहीं था। जिसे वह सत्य समझते थे, उस पर सब कुछ न्योछावर करने को तय्यार थे। आप पहले दीवान रत्नचन्द्र के बंगले में ठहराये गये — स्वामीजी के व्याख्यानों से दीवान साहिब असन्तुष्ट होगये। स्वामीजी ने उनका स्थान छोड़ दिया, परन्तु बात नहीं छोड़ी। आपको लाहौर में निमन्त्रित करने वालों में बहुत से ब्राह्मो समाजी सज्जन थे। स्वामीजी के वेद-सम्बन्धी व्याख्यानों से ब्राह्मोसमाजी असन्तुष्ट हो गये। पं० शिवनारायण अग्निहोत्री, जो पीछे से सत्यानन्द अग्निहोत्री बनकर, और सन्यस्त दशा में ही नया विवाह करके ईश्वर के स्थानापन्न 'देवगुरु भगवान' होने का दावा करने वाला बना, वह उससमय ब्राह्मोसमाज का प्रचारक था। वह वेदों के विषय में निर्मूल आक्षेप करने में अगुआ था। एक दिन कई सज्जनों की उपस्थिति में वह स्वामीजी से कहने लगा कि 'सामवेद ईश्वरीय नहीं हो सकता—उसमें तो उल्लू की कहानी लिखी है'। स्वामीजी ने सामवेद की पुस्तक सामने रखकर कहा—'इसमें से उल्लू की कहानी निकालकर दिखाओ'। ब्राह्मो समाजी वेदों को निर्भ्रान्त नहीं मानते थे, परन्तु उनको पाश्चात्य विद्वानों को

की हुई टीकाओं को अवश्य निर्भ्रान्त मानते थे। अग्निहोत्री जी ने निर्भ्रान्त टीका के आधार पर ही वेदों को भ्रान्त बतलाया था, मूल वेद में से वह कुछ भी न निकाल सके—केवल पन्ने पलटने लगे। स्वाजीजी ने उन्हें शर्मिन्दा किया। ऐसी बातों से ब्राह्मो समाजी असन्तुष्ट हो गये और स्वामीजी के डेरे को आर्थिक सहायता देनी बन्द करदी। तब पं० मनफूलजी की ओर से टहल-सेवा होने लगी। पं० मनफूलजी के विचार तो उत्तम थे परन्तु स्वामीजी के मूर्तिपूजा-खण्डन से वह भी कुछ घबरा गये। उधर काश्मीर-नरेश की ओर से स्वामीजी को फिर संदेसा आया। दिल्ली में भी उन्हें संदेसा मिला था। नरेश ने स्वामीजी को काश्मीर में निमन्त्रण दिया था। स्वामीजी ने उत्तर में कहला भेजा था कि "काश्मीर राज्य में राजा की ओर से बनवाये हुए बहुत से मन्दिर हैं। मैं मूर्तिपूजा का खण्डन करूंगा, इससे राजा को दुःख होगा।" लाहौर में पं० मनफूलजी ने फिर स्वामीजी के सम्मुख वही विषय रखा। निवेदन किया कि यदि आप मूर्तिपूजा का खण्डन छोड़ दें तो महाराज काश्मीर भी आपको बुलालें। उस समय स्वामीजी ने जो उत्तर दिया, वह उनके महत्व का सूचक है। उससे ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द साधारण मिट्टी से नहीं बने थे; वह उसी फौलाद से बने थे, जिससे बुद्ध, ईसा, मुहम्मद या लूथर का निर्माण हुआ था। आपने कहा — "मैं लोगों को या महाराज काश्मीर को प्रसन्न करूं या ईश्वरीय आज्ञा का पालन करूं?" इस उत्तर से पं० मनफूल जी का संकुचित हृदय और भी खिन्न हो गया —

स्वामीजी के हृदय की गहराई को पहचानने के स्थान में उन्होंने इस उत्तर में अपना अधिक्षेप समझा।

शीघ्र ही शहर के शिक्षित समाज में हलचल पैदा हो गई। पंजाबियों के कोमल हृदयों पर ऋषि की दी हुई चोटों का असर होने लगा। आर्यसमाज की स्थापना का निश्चय हो गया। यहां बम्बई में प्रचारित किए हुए नियमों का संशोधन किया गया, और नियम तथा उपनियम जुदा कर दिये गये। आर्यसमाज के सभासद् बनने के लिये केवल १० नियमों को मानना ही पर्याप्त समझा गया। बम्बई के नियम बहुत विस्तृत थे, लाहौर के नियम बहुत संक्षिप्त बनाये गये।

१० नियमों का निर्धारण आर्यसमाज की स्थापना और वृद्धि का एक खास पड़ाव है। यह नहीं समझना चाहिये कि इस नए नियम-संस्कार में कोई विशेष कारण या उद्देश्य नहीं था। इतना समझ लेने से पूरा महत्व सूचित नहीं होता कि किन्हीं एक या एक से अधिक व्यक्तियों ने अपनी सम्मतियों का प्रभाव डालकर यह परिवर्तन करवाया। नियमों का संस्करण संगठन की एक विशेष मंजिल है — वह एक विशेष घटना है, जिसके कारणों और फलों पर विचार करना चाहिये। ऋषि दयानन्द के जीवन में यह नियम-संस्कार एक विशेष मानसिक फैलाव को सूचित करते हैं—और इस ग्रन्थ के लेखक का विचार है कि इस फैलाव को ध्यान में रखते हुए स्वामी दयानन्द को केवल सुधारक सन्यासी न मानकर आर्य जाति का भविष्यदर्शी,

परमात्मा के सार्वभौम संदेश का सुनाने वाला 'ऋषि' माना जाय और स्वामीजी के लिये इसी शब्द का प्रयोग किया जाय।

बारहवां परिच्छेद

नियमों की दृढ़ नींव

आर्यसमाज के नियमों का दूसरा संस्करण करने का क्या निमित्त था, यह एक आवश्यक प्रश्न है। ऋषि दयानन्द ने बम्बई के नियमों में परिवर्तन की आवश्यकता समझी, यह बिना निमित्त के नहीं हो सकता। परिवर्तन की आवश्यकता का प्रथम प्रयोजन यह प्रतीत होता है कि नियमों को कुछ अधिक स्पष्ट कर दिया जाय। बम्बई के नियमों में न जाने क्या-क्या मिला हुआ था — आर्यसमाज का उद्देश्य, सभासदों की योग्यता, समाज का संगठन, अधिवेशनों की कार्यवाही, समाचार-पत्रों का निकालना आदि गौण और मुख्य, व्यापक और स्थानीय सभी प्रकार की बातें मिला कर धर दी गई थीं। आवश्यक था कि मुख्य को गौण से तथा व्यापक को स्थानीय से जुदा कर दिया जाय। लाहौर के दस नियमों में केवल उन्हीं बातों के समावेश का यत्न किया गया, जो मुख्य और व्यापक

हैं। बम्बई के नियमों का १९वां नियम कहता है कि 'इस समाज की ओर से श्रेष्ठ विद्वान् लोग सर्वत्र सदुपदेश करने के लिए भेजे जावेंगे'— यह एक गौण नियम है। यह प्रत्येक समाज की शक्ति पर अवलम्बित है कि वह प्रचार के लिए उपदेशकों को बाहिर भेज सकता है या नहीं? हरेक समाज के लिए यह नियम नहीं बन सकता कि वह उपदेशक रख कर प्रचार करावे। इस प्रकार के नियम लाहौर में स्वीकृत नियमों में से निकाल दिये गये हैं।

लाहौर में स्वीकृत नियम अधिक व्यापक हैं। उनमें विचारों की अधिक उदारता पाई जाती है। उनके निर्माता का दृष्टिक्षेत्र विस्तृत हो गया है। बम्बई वाले नियम बम्बई के उस समय के सामान्य विचारों के प्रतिबिम्ब थे; लाहौर वाले नियम हृदय तथा प्रतिभा के विकास को सूचित करते हैं। बम्बई वाले नियमों में ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं। लाहौर वाले नियम वस्तुतः ईश्वर-विश्वास को ही सब विश्वासों का आधार मान कर चले हैं। उनमें आर्यसमाज का भवन ईश्वर-विश्वास की मजबूत नींव पर रखा गया है। लाहौर के संस्कृत नियम सिद्ध करते हैं कि ऋषि दयानन्द अन्य सब विश्वासों की अपेक्षा ईश्वर-विश्वास को अधिक आवश्यक समझते थे। बहुत-सी बुराइयों की जड़ वह ईश्वर-सम्बन्धी उल्टे विचारों को ही मानते थे। उन्होंने अपने जीवन का एक विशेष उद्देश्य यह बना रखा था कि लोगों के ईश्वर-सम्बन्धी विचारों का सुधार किया जाय। बम्बई में बने नियमों में यह बात अच्छी तरह

नहीं सूचित होती थी। लाहौर में वह त्रुटि पूरी कर दी गई। उद्देश्य पर ध्यान दें तो भी व्यापकता की वृद्धि पाई जाती है। छठा नियम यह है 'संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।' उद्देश्यों में से स्थानीयता निकल गई है—ऋषि का दृष्टिक्षेत्र विस्तृत हो गया है। वह आर्य जाति का सुधार इसलिए नहीं करना चाहता कि वह केवल आर्यजाति की भलाई चाहता है; वह आर्यजाति को सुधार कर संसार के उपकार का साधन बनाना चाहता है।

तीसरा भेद, जिसकी ओर ध्यान देना आवश्यक है, यह है कि ईश्वरीय ज्ञान की व्याख्या अधिक विस्तृत और उदार हो गई है। पहला नियम बताता है कि 'सब सत्य विद्या और जो पदार्थ सत्य विद्या से जाने जाते हैं, उनका सबका आदि मूल परमेश्वर है'—कितनी उदार और संकोचहीन व्याख्या है! ईश्वर के ज्ञान की सीमायें नहीं बांधी गईं। सर्वज्ञ और असीम भगवान् के ज्ञान के चारों ओर रेखा खेंची भी नहीं जा सकती। 'सब सत्य विद्या का आदिमूल परमेश्वर है'—विद्यारूपी वृक्ष का तना है, शाखायें हैं, पत्ते फूल और फल सब हैं; परमात्मा उनका आदिमूल है। आदि-मूल तभी हो सकता है, जब वृक्ष की सम्भावना मान ली जाय। इस प्रकार अपरिमित ज्ञान रूपी कल्पवृक्ष का मूल परमात्मा को माना गया है। परमात्मा का ज्ञान भी अपरिमित है। अपरिमित का मूल अपरिमित ही हो सकता है। जो मतवादी ईश्वर के असीम ज्ञान-भण्डार को

एक दो या अधिक कमरों में बन्द समझना चाहते हैं, उन्हें स्वामी दयानन्द के उदार विचार पर ध्यान देना चाहिये। पहला नियम अनुदारता की जड़ पर कुठाराघात करता है। वह पन्थाई-पन का कट्टर शत्रु है। वह उन लोगों के दावे को छिन-भिन्न कर देता है, जो ईश्वरीय ज्ञान के ठेकेदार बनना चाहते हैं।

कई महानुभावों का यह दावा है कि स्वामीजी को उन्होंने निय-मपरिवर्तन में प्रेरित किया और जो भेद दिखाई देता है वह उन्हीं की उदारता का फल है। प्रेरणा किसी की ओर से हो, इसमें सन्देह नहीं कि जो भी परिवर्तन किया गया वह स्वामीजी की अनुमति से किया गया। यदि उन नियमों में अधिक उदारता है तो ऋषि दयानन्द के विचारों की उदारता ही उसमें कारण है। यदि किसी को ऊपर दिये नियमों से उदारता का भली-भांति पता न लगे तो वह निम्नलिखित नियमों पर भी दृष्टिपात करे। निश्चित है कि उसका भ्रम दूर हो जायगा—

(४) 'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।' क्या एक धर्म का संस्थापक अपने अनुयायियों के लिए इससे अधिक उदार नियम का भी निर्माण कर सकता है?

(६) 'प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।'

लाहौर वाले दसों नियमों में एक असीम सत्य प्रेम, एक अनन्त उदार-हृदयता और एक व्यापक उद्देश्य की सूचना

मिलती है। जिस आत्मा में इन तीनों गुणों का निवास हो यदि उसे 'ऋषि की आत्मा' न कहें तो और किसे कहें ?

लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना होगई। समाज के अधिवेशनों के लिए एक मकान किराये पर ले लिया गया। ऋषि दयानन्द उसमें प्रतिसप्ताह धर्मोपदेश किया करते थे। समाज के प्रधान ला० मूलराजजी एम० ए० और मन्त्री ला० सांईदासजी नियत हुए। कई भक्तों ने ऋषि से प्रार्थना की कि आप 'आर्यसमाज के गुरु या आचार्य पद को ग्रहण करें।' ऋषि ने उत्तर दिया कि 'इस प्रस्ताव से गुरुपन की बू आती है। मेरा उद्देश्य तो गुरुपन की जड़ काटना है, उससे मुझे घृणा है।' तब दूसरे भक्त ने प्रस्ताव किया कि यदि स्वामीजी आचार्य या गुरु नहीं बनना चाहते तो कम से कम 'आर्य-समाज के परम सहायक की पदवी तो अवश्य ही स्वीकार करें। ऋषि का उत्तर प्रश्न के रूप में था। आपने पूछा कि 'यदि मुझे आर्यसमाज का परम सहायक कहोगे तो परमात्मा को क्या कहोगे ?' फिर यह विचार कर कि आर्यपुरुष सर्वथा इन्कार से उदास न हों, उन्होंने समाज के सहायकों में नाम लिखाना अंगीकार कर लिया। यही ऋषि दयानन्द का ऋषिपन था। जिन लोगों को मौका मिला, वह पैगम्बर और रसूल बनने से नहीं कतराये; जिन्हें इतनी बड़ी हिम्मत न हुई, वह आचार्य या नबी बन गये। ऋषि का ही ऐसा हृदय था कि आचार्य, गुरु या परम सहायक तक के पदों को स्वीकार नहीं किया। कारण यही था कि ऋषि दयानन्द अपने को

परमात्मा के ज्ञान का प्रचारक और सत्य का साधनमात्र समझते थे, इससे अधिक कुछ नहीं। वहां न बड़प्पन की चाह थी और न गुरुपन की बू। वहां तो एक ईश्वर पर विश्वास था और सत्य पर अटल श्रद्धा थी। यही कारण था कि इस वीर की एक ही गर्जे से सदियों के खड़े किए हुए गुरुडम के गढ़ हिल जाते थे, झुक जाते थे और गिरकर चकनाचूर हो जाते थे। यदि ऋषि में अपनी बड़ाई या लौकिक बढ़ती की कुछ भी कामना होती तो उन्हें ऐसी अद्भुत सफलता कभी प्राप्त न होती।

लाहौर में नियम और उपनियम जुदा कर दिए गये थे। उपनियम अन्तरंग सभा ने बनाए थे। जिस समय अन्तरंग सभा में उपनियमों पर विचार हो रहा था, स्वामीजी अकस्मात् वहां पहुँच गये। सभासदों ने प्रस्तुत विषय पर स्वामीजी की सम्मति मांगी। ऋषि ने कहा कि 'मैं आपकी अन्तरंग सभा का सभासद् नहीं हूं, इसलिए मुझे सम्मति देने का अधिकार नहीं है।' सर्वसम्मति से स्वामीजी को उसी समय अन्तरंग सभा का प्रतिष्ठित सभासद् बना दिया गया। उपनियम तैयार हो जाने पर स्थानीय समाज का संगठन पूरा हो गया। समाज-मन्दिर में नियमपूर्वक अधिवेशन होने लगे। इसप्रकार लाहौर के कार्य से निश्चिन्त होकर ऋषि ने प्रान्त का भ्रमण आरम्भ किया। आपने अमृतसर, गुरुदासपुर, जालन्धर, फीरोजपुर छावनी, रावलपिण्डी, गुजरात, वजीराबाद, गुजरांवाला तथा मुल्तान छावनी आदि में पधारकर सदुपदेश दिये। प्रायः आपके पहुँचते ही आर्यसमाज की स्थापना हो जाती थी। आर्यसमाज की स्थापना से पौराणिक

गढ़ में और पादरी दल में भी हलचल पैदा हो जाया करती थी। सभी स्थानों पर इधर पौराणिकों और उधर पादरियों से संग्राम करना पड़ता था। पंजाब का पौराणिक-दल पण्डितों से बिल्कुल शून्य था। प्रान्त भर में कोई भी अच्छा पण्डित नहीं था। वेद का ज्ञान तो कहां, अर्वाचीन संस्कृत का भी कोई अच्छा ज्ञाता मिलना कठिन था। यही कारण था कि पंजाब में पौराणिक दल की ओर से अधिक असभ्यता का व्यवहार होता था। वह लोग पांडित्य का स्थान भी गाली-गलौच और ईंट-पत्थर से पूरा करना चाहते थे। अमृतसर और वजीराबाद आदि शहरों में व्याख्यानों या शास्त्रार्थों के स्थान में गाली और पुस्तकों के प्रमाणों के स्थान में कंकर के प्रयोग को काफी समझा गया। पादरियों के साथ शास्त्रार्थ कम हुए परन्तु उनके चंगुल में फंसे हुए बहुत से अबोध बटेरे ऋषि दयानन्द ने बचाये।

पंजाब के दौरे की कुछेक घटनायें ऋषि दयानन्द के चरित्र का अच्छा चित्रण करती हैं। जब वह अमृतसर में उपदेश कर रहे थे, उन दिनों पादरी क्लर्क उनके पास आये। पादरी साहिब ने स्वामीजी को एक ही मेज पर इकट्ठे भोजन करने के लिए निमन्त्रित किया। स्वामीजी ने पूछा कि इकट्ठे भोजन करने से क्या लाभ होगा? पादरी महाशय बोले कि 'इकट्ठे खाने से प्रीति बढ़ जायगी'। इस पर स्वामीजी ने कहा कि—

'शीआ और सुन्नी एक ही बर्तन में खाते हैं। रूसी और अंग्रेज तथा इसी तरह आप और रोमन कैथोलिक ईसाई एक ही मेज पर जीम लेते हैं परन्तु सब जानते हैं कि इनमें परस्पर कितना

वैर विरोध है। एक दूसरे के साथ कितनी शत्रुता है।'

सरदार दयालसिंह मजीठिया अमृतसर के प्रसिद्ध रईस थे। वह ब्राह्मो थे। वह प्रायः वेदों पर शंकायें किया करते थे। बातचीत करने में वह प्रायः आपे से बाहिर हो जाते और किसी नियम का पालन नहीं करते थे। एक बार बातचीत में वह बहुत तेज होगये। स्वामी जी ने उन्हें बार बार समझाया कि आप निश्चित समय तक बोला कीजिए, प्रतिवादी को भी बोलने का मौका दीजिये, तब भी सरदार साहिब शान्त न हुए। तब स्वामीजी ने कहा कि 'यदि आप निर्णय ही कराना चाहते हैं तो केशवचन्द्रजी को बुलाकर बातचीत करा लीजिये।'

गुरुदासपुर में ऋषि दयानन्द के व्याख्यान सुनने इन्जिनियर मि० काक भी आया करते थे। एक दिन व्याख्यान देते हुए आपने कहा कि—

"अंग्रेज लोगों को इस देश में आये बहुत चिर होगया है परन्तु इन लोगों ने अपने उच्चारण को अब तक नहीं सुधारा। तकार के स्थान में टकार ही बोलते हैं"। काक महाशय रुष्ट होगये और यह कहते हुए चले गये कि 'यदि तुम पश्चिम में पेशावर की ओर चले जाओ तो तुम्हें मजा आ जाय'। काक महाशय का अभिप्राय शायद यह था कि स्वतन्त्रता से बोलना केवल अंग्रेजी राज्य में ही सम्भव है। ऐसा तर्क प्रायः किया जाता है, परन्तु तर्क करने वाले लोग भूल जाते हैं कि अंग्रेजी राज्य से पूर्व भी भारतवर्ष में स्वाधीन क्रिया के लिये बहुत अधिक रास्ते खुले थे। पहले तो अंग्रेजी राज्य में वाणी की स्वाधीनता बहुत परिमित है,

और फिर कौन कह सकता है कि वाणी की थोड़ी सी स्वाधीनता शिक्षा, हथियार और राजकीय स्वाधीनता से बहुत श्रेष्ठ है।

जालन्धर में ऋषि दयानन्द सरदार विक्रमसिंह के यहाँ ठहरे हुए थे। सरदार जी ने स्वामी जी से ब्रह्मचर्य के बल की बाबत पूछा। स्वामीजी ने बतलाया कि ब्रह्मचर्य से अतुल बल की प्राप्ति हो सकती है। सरदार साहिब को विश्वास न हुआ, और सबूत मांगने लगे। स्वामीजी उस समय चुप रहे। सांझ के समय सरदार साहब अपनी गाड़ी में बैठकर बाहिर चले। गाड़ी में बड़ी बढ़िया जोड़ी जुती हुई थी। कोचवान ने लगाम सम्भाली और चाबुक हिलाया। जो जोड़ी इशारा पाते ही हवा से बातें करने लगती, वह केवल अगले पांव उठाकर रह जाती थीं। कोचवान झुंझला गया, सरदार साहिब आश्चर्य से इधर उधर देखने लगे। पीछे दृष्टि पड़ी तो देखा कि स्वामीजी गाड़ी को पकड़ कर मुस्करा रहे हैं। सरदार साहिब को ब्रह्मचर्य के बल का एक नमूना मिल गया और स्वामीजी ने हंसकर गाड़ी को छोड़ दिया।*

पंजाब में भ्रमण के समय ऋषि दयानन्द वेदभाष्य लिखाया करते थे, इस कारण उनके साथ दो तीन पण्डित रहते थे। पत्र-व्यवहार के लिए एक लेखक रहता था। आप प्रायः आर्योद्देश्य-रत्नमाला में क्रम से दिए लक्षणों में से एक एक को लेकर उसकी व्याख्या किया करते थे। सब व्याख्यान शास्त्रीय

* यह घटना जालन्धर की है। कई लेखकों ने इसे रावलपिंडी की घटना बतलायी है। वह भूल है।

होते थे। शास्त्रीय विषय के प्रसंग में प्रचलित सामयिक बुराइयों का भी खण्डन करते जाते थे। धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक सभी प्रकार के दोषों की मीमांसा हो जाती थी। सभी प्रकार की बुराइयों पर सुदर्शन चक्र घूम जाता था। किसी भी जीवित शक्ति का लिहाज नहीं किया जाता था। ऋषि की दृष्टि में दो ही वस्तुयें थीं — एक सत्य, दूसरी असत्य। सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन, यह उनका धर्म था। यहां न प्रजा का लिहाज था, न राजा का भय था। संसार की हर प्रकार की भलाई करना उनका लक्ष्य था।

अपने निवास-स्थान पर स्वामीजी साधारण वेष में रहते थे, परन्तु व्याख्यान के समय सिर पर रेशमी पीताम्बर, नीचे पीली रेशमी धोती, और ऊपर ऊनी चोगा पहिनते थे। शरीर सुडौल और लम्बा था। चेहरा पूर्ण चन्द्र के समान भरा हुआ और तेजस्वी था। आंखों से तेज बरसता था। यह प्रभावयुक्त मूर्ति थी, जिसने थोड़े ही दिनों में पंजाब भर में धार्मिक हलचल पैदा करदी, और भ्रमात्मक विचारों का महल हिला दिया।

तेरहवां परिच्छेद

आर्यसमाज का विस्तार

बम्बई, युक्तप्रान्त और पंजाब में आर्यसमाजों की स्थापना हो चुकी थी। आर्यसमाज के सभासद् हजारों की संख्या तक

पहुँच चुके थे। जितने सभासद् थे, ऋषि दयानन्द के भक्त और अनुयायी उनसे बहुत अधिक थे। बहुत से लोग समझते थे कि "यह सुधारक कहता तो ठीक है, परन्तु यह सन्यासी है, निशंक है, हम इतना त्याग नहीं कर सकते, इस कारण सच्ची बात भी मुंह पर नहीं ला सकते।" ऐसे लोग आर्यसमाजी न हों, परन्तु वह ऋषि के भक्त थे — और उसे आर्य जाति का रक्षक समझते थे।

इस समय उत्तरी भारत में स्वामी जी की अपूर्व स्थिति थी। वह आर्य जाति (हिन्दू जाति) के नेता, सुधारक और रक्षक माने जाते थे। आर्य जाति का प्राण गो वंश है। इस समय गोरक्षा के लिए ऋषि दयानन्द से बढ़ कर ऊंची आवाज उठाने वाला कोई नहीं था। ऋषि ने 'गोकरुणानिधि' लिखकर आर्य जाति की आंखें खोलने का यत्न किया था। वह जिस किसी भी सरकारी अफसर से मिले उसके सन्मुख भारत में गोहत्या बन्द कराने पर जोर दिया। इतना ही नहीं, ऋषि के सिंहनाद से पहले ईसाई पादरी और मुसलमान मौलवी हिन्दू धर्म पर गहरी चोटें पहुँचा रहे थे। बेचारे हिन्दू पण्डित मूर्तियों और पुराणों के बोझ से दबे हुए होने के कारण अपनी पीठ भी सीधी न कर सकते थे, शत्रुओं के प्रहारों का क्या उत्तर देते? पादरी और मौलवी हिन्दू क्षेत्र में से खूब फसल काट रहे थे। ऋषि दयानन्द ने जहां एक ओर आर्य जाति की पीठ पर से पत्थर और पोथियों का बोझ उठा कर उसकी कमर सीधी करदी, वहां दूसरी ओर पादरियों और मौलवियों के तीरों के रोकने के

लिये तर्क की ढाल खड़ी करदी। न केवल इतना ही। ऋषि दयानन्द प्रतिभाशाली योद्धा था। वह जानता था कि जो आदमी केवल गढ़ की ओट से दुश्मन के वार रोकता है, वह कभी दुश्मन को हरा नहीं सकता। दुश्मन की हिम्मत तोड़ने के लिये उल्टा आक्रमण भी चाहिए। पादरी और मौलवी पुराणों की कथाओं के हवाले दे देकर आर्य जाति को निरुत्तर कर रहे थे। पुराणों का त्याग करके मूर्तिपूजा को वेद-विरुद्ध बतला कर ऋषि ने वह छिद्र बन्द कर दिये, जहां से होकर दुश्मन के गोले आर्यपुरी में आरहे थे। इस प्रकार घर की रक्षा का पूरा प्रबन्ध करके उस चतुर सेनानी ने अपनी समालोचनारूपी सेना का मुंह बाहिर को मोड़ा, और खुले मैदान में प्रत्याक्रमण कर दिये। ऋषि ने इंजील और कुरान हाथ में लिए, और ईसाइयों और मुसलमानों को बताया कि तुम दूसरों की आंखों में तिनका ढूंढने जारहे हो, पहले अपनी आंख का शहतीर तो संभाल लो। ईसाइयों और मुसलमानों को कोमल-प्रकृति हिन्दू से कभी प्रत्याक्रमण की आशा न थी। वह हरिण से यह आशंका न करते थे कि वह सींग मारेगा। पादरी और मौलवी इस आकस्मिक प्रत्याक्रमण से झुंझला उठे। उधर आर्य जाति का हृदय फूल उठा। आर्य धर्म और आर्य सभ्यता की रक्षा भी हो सकती है, आर्य वीरों के इतिहास का भी कोई रखवाला है, आर्य जाति भी अपने मान को बचा सकती है— इन विचारों से, आर्य पुरुषों का सांस प्रसन्नताभरी आशा से भरपूर होकर ज़ोर से चलने लगा। जो आर्यजन ऋषि के कार्य के महत्व को समझ

सकते थे, प्रसन्न थे कि परमात्मा ने आर्य जाति आर्य धर्म और आर्य सभ्यता का रक्षक भेज दिया है। जो लोग ऋषि दयानन्द के खण्डनों को देखकर घबराते हैं, वह कभी उस स्थिति पर विचार नहीं करते, जिसमें ऋषि को काम करना पड़ा। स्थिति यह थी। आर्य धर्म पर ईसाइयों और मुसलमानों के भयंकर आक्रमण हो रहे थे। उन्हें सफलता भी प्राप्त हो रही थी। सफलता के दो कारण थे। एक तो आर्य जाति में आई हुई बुराइयों के कारण घर की निर्बलता, और दूसरा विरोधियों का निष्ठुरता से आक्रमण। ऋषि ने स्थिति को पहिचान कर ठीक उपाय का प्रयोग किया। घर में सुधार और आक्रमण करने वालों पर प्रत्याक्रमण — यह दो ही उपाय थे। वह स्थिति खतरे से भरी हुई थी, इस कारण धर्म के सेनापति को युद्ध के नियमों के अनुसार कठोर साधनों का प्रयोग करना पड़ा। इस में अनुचित क्या था?

ऋषि दयानन्द उत्तरी भारत में आर्य जाति के मान्य नेता थे। वह आर्यसमाजों के संस्थापक, गुरु और आचार्य थे। राजा और प्रजा की दृष्टि में वह भारत के अगुआओं में से एक थे। यह स्थिति थी, जब वह पंजाब का दौरा लगा कर १८७७ ई० के जुलाई मास में युक्तप्रांत में वापिस गये। लगभग दो वर्ष तक आप बराबर युक्तप्रांत में ही भ्रमण करते रहे। इस दौरे में प्रचार हुआ, नये आर्यसमाजों की स्थापना हुई, और मौलवियों तथा पादरियों से शास्त्रार्थ हुए। २९ जुलाई १८७८ ई० को ऋषि दयानन्द रुड़की पहुंचे। वहां आप के व्याख्यानों में

इंजिनियरिंग कालेज के विद्यार्थी और प्रोफेसर लोग आया करते थे। उन लोगों के प्रश्न प्रायः विज्ञान के विषय पर होते थे। स्वामी जी ने एक दिन इसी विषय पर बातचीत की कि प्राचीन भारत में विज्ञान था या नहीं ? आपने वेदों तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों के प्रमाण देकर बताया कि प्रायः सभी मुख्य मुख्य वैज्ञानिक सिद्धान्त, जिन पर नये विज्ञान का गर्व है, हमारे साहित्य में विद्यमान हैं। रुड़की से अलीगढ़ होते हुए स्वामी जी अगस्त मास के अन्त में मेरठ पहुंचे। मेरठ में उस समय विशेष जागृति थी। १६ सितम्बर १८७८ ई० के शुभ दिन वहां आर्यसमाज की स्थापना हो गई। मेरठ के उत्साही आर्य पुरुषों के धर्मबल से वह समाज शीघ्र ही युक्तप्रांत के समाजों में मुख्य होगया। मेरठ से स्वामी जी दिल्ली पहुंचे। यहां भी प्रचार के अनन्तर आर्यसमाज की स्थापना हुई।

दिल्ली से चल कर स्वामीजी ने छः सात महीनों तक बड़ी भाग-दौड़ का दौरा लगाया। अजमेर, नसीराबाद, जयपुर, रिवाड़ी, दिल्ली, मेरठ, हरिद्वार, देहरादून आदि में प्रचार और सुधार का कार्य करते हुए आप आर्य पुरुषों को नया जीवन प्रदान करते रहे। मई (१८७९) मास में आप मुरादाबाद पहुँचे। मुरादाबाद में मुन्शी इन्द्रमन आदि भक्तों के आग्रह से स्वामीजी ने देर तक निवास किया। आपके व्याख्यानों का विषय धार्मिक होता था, परन्तु आपकी दृष्टि में धर्म इतना विस्तृत था कि मनुष्य जीवन से सम्बन्ध रखने वाला शायद ही कोई ऐसा विषय हो, जिस पर आप प्रकाश न डालते हों।

परमात्मा और आत्मा पर गहरे विचार, सायंस की समस्यायें, विवाह आदि सामाजिक प्रश्न, देश की दशा, राजा के कर्तव्य आदि सभी विषयों पर ऋषि दयानन्द अपनी सम्मति प्रकाशित किया करते थे। आपका 'धर्म' बड़ा विस्तृत था। वह केवल 'ईश्वरपूजा' तक परिमित नहीं था और न ही डर या नीति की दृष्टि से आप उसके बीच में लकीरें डालने को तैयार हो जाते थे। 'धर्म' एक था, व्यापी था, सर्वतोगामी था, मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार में 'धर्म' का कुछ वक्तव्य है, यह ऋषि दयानन्द का सिद्धान्त था। आपके व्याख्यान और आपका प्रधान ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' यह प्रमाणित करते हैं कि 'धर्म' को आप एक मजहब, ईमान या Religion नहीं समझते थे, बल्कि एक व्यापी नियम मानते थे। यही कारण था कि ऋषि ने आर्यावर्त के प्राचीन गौरव पर बीसियों व्याख्यान दिये, अनेक प्रार्थनाओं में आर्य जाति के चक्रवर्ती राज्य की प्रार्थना की और राजा तथा प्रजा का धर्म बताते हुए भारत के विदेशी शासन की कमियां दिखाईं। मुरादाबाद में आपके व्याख्यानों के समय अन्य लोगों के साथ स्थानीय कलेक्टर मि० स्पेडिंग भी आया करते थे। उनके कहने पर एक दिन स्वामीजी ने राजधर्म पर ही व्याख्यान दिया। ऋषि ने वेदों तथा स्मृतियों के प्रमाणों से राजनीति के सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हुए निर्भयता से राज्य के दोष दिखलाये। व्याख्यान घण्टों तक होता रहा। व्याख्यान के अन्त में कलेक्टर महाशय ने स्वामीजी को धन्यवाद दिया और कहा कि यदि राजा और प्रजा के सम्बन्धों की ऐसी ही स्थिति रहती तो जो

राजविप्लव हो चुका है, वह कभी न होता।

मुरादाबाद से चल कर बदायूं ठहरते हुए स्वामीजी बरेली पहुँचे। बरेली के रईस ला० लक्ष्मीनारायण की कोठी पर आपका सामान जमाया गया। व्याख्यान आरम्भ होगये। स्वामीजी व्याख्यान के स्थान पर ठीक समय से पूर्व ही पहुँच जाते थे और नियत समय पर व्याख्यान शुरू कर देते थे। व्याख्यान का स्थान उतारे से दूर था, इस कारण ला० लक्ष्मीनारायण की गाड़ी समय पर आ जाती थी और मण्डप तक स्वामीजी को पहुँचा जाती थी। एक दिन स्वामीजी व्याख्यान-मण्डप में नियत समय से पौन घण्टे पीछे पहुंचे। समय का व्यतिक्रम स्वामीजी के स्वभाव में नहीं था। उन्हें विलम्ब से पहुँचने का बड़ा दुःख हुआ। व्याख्यान के प्रारम्भ में ही आपने कहा—

"मैं तो समय पर समुद्यत था, परन्तु गाड़ी नहीं पहुँच सकी। अन्त में पैदल चल कर आ रहा था कि मार्ग में गाड़ी मिली। समय के व्यतिक्रम में मेरा दोष नहीं है, किन्तु बच्चों के बच्चों का है। बाल-विवाह की सन्तानों में ऐसी निर्बलता का होना आश्चर्य नहीं है।"

व्याख्यानों में सभी ऊंचे राज्याधिकारी आया करते थे। स्वामीजी जी बिना भय या लिहाज के सच्चे धर्म का प्रचार करते थे। बरेली में एक ऐसी घटना हुई, जिससे स्वामीजी के चरित्र का भली प्रकार चित्रण होता है। घटना का वर्णन लेखकों ने रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न भाषाओं में किया है। मैं यहां पर महात्मा मुन्शीराम जी का किया वर्णन उद्धृत

करता हूँ। यह पं० लेखराम जी के लिखे जीवन-चरित्र की भूमिका में दिया गया है। महात्मा जी व्याख्यान में स्वयं उपस्थित थे, अतः उनका किया वर्णन अधिक यथार्थ है।

"एक रोज व्याख्यान देते हुए श्रीस्वामीजी महाराज पुराणों की असम्भव बातों का खण्डन करते-करते उनकी सदाचार-शिक्षा का खण्डन करने लगे। उस समय पादरी स्काट, मिस्टर रेड कलेक्टर जिला और मि० एडवर्ड साहिब कमिश्नर डिवीजन पन्द्रह बीस और अंग्रेजों के साथ विद्यमान थे। स्वामीजी ने पुराणों की पञ्च कुमारियों की चर्चा करते हुए एक-एक के गुण बयान करने आरम्भ किये और पौराणिकों की बुद्धि पर शोक प्रकाशित किया, कि द्रौपदी के पांच पति कराके उसे कुमारी करार दिया और इसी तरह कुन्ती, तारा, मन्दोदरी आदि को कुमारी कहना पौराणिकों की आचार सम्बन्धी शिक्षा को निकम्मा सिद्ध करता है। स्वामीजी की कथनशैली ऐसी परिहास-पूर्ण थी कि श्रोता थकने का नाम नहीं लेते थे। इस पर साहिब कलेक्टर और साहब कमिश्नर आदि हंसते और प्रसन्नता प्रकाशित करते थे। किन्तु इस विषय को समाप्त करके स्वामीजी महाराज बोले—

'पुरानियों की तो यह लीला है, अब किरानियों की लीला सुनो। यह ऐसे भ्रष्ट हैं कि कुमारी के बेटा पैदा होना बताते, फिर दोष सर्वज्ञ शुद्ध-स्वरूप परमात्मा पर लगाते और ऐसा घोर पाप करते हुए तनिक भी लज्जित नहीं होते।' इतना कहना था कि साहिब कलेक्टर और साहिब कमिश्नर के चेहरे मारे

गुस्से के लाल हो गये, लेकिन स्वामीजी का व्याख्यान उसी जोर से जारी रहा। उस रोज ईसाई मत का व्याख्यान की समाप्ति तक खण्डन करते रहे। दूसरे रोज सुबह को ही खजांची लक्ष्मीनारायण की साहिब कमिश्नर बहादुर की कोठी पर तलबी हुई। साहिब बहादुर ने फरमाया कि अपने पण्डित साहिब को कह दो कि बहुत सख्ती से काम न लिया करें। हम ईसाई लोग तो सभ्य हैं। हम तो बहस-मुबाहिसा में सख्ती से नहीं घबराते, लेकिन अगर जाहिल हिन्दू और मुसलमान बिगड़ गये तो तुम्हारे स्वामी पण्डित के व्याख्यान बन्द हो जायेंगे। खजांची साहिब यह पैगाम स्वामीजी के पास पहुँचाने का वादा करके बाहिर चले आये। लेकिन स्वामीजी तक यह मजमून पहुँचाने वाला बहादुर कहां से मिलता? कई एक ड्योढ़ी-बरदारों से प्रार्थना की, लेकिन कोई भी आगे बढ़ने की हिम्मत न कर सका। आखिरकार चिट्ठी एक नास्तिक पर पड़ी, और उसका जिम्मा ठहराया गया कि वह मामला पेश कर देवे। खजांची साहिब मय उस नास्तिक और चन्द एक दीगर आदमियों के कमरे में पहुंचे। जिस पर नास्तिक ने सिर्फ यह कहकर कि 'खजांची साहिब कुछ अर्ज करना चाहते हैं, क्योंकि उन्हें कमिश्नर साहिब ने बुलाया था' किनारा किया और कुल मुसीबत खजांची साहिब पर टूट पड़ी। अब खजांची साहिब कहीं सिर खुजलाते हैं, कहीं गला साफ करते हैं। आखिर पांच मिनट तक विस्मय से देखकर स्वामीजी ने फर्माया "भाई तुम्हारा तो कोई काम करने का समय ही नहीं है, इसलिए तुम समय की कीमत नहीं समझ सकते, मेरा समय अमोल है, जो

कहना चाहते हो, कह दो।' इस पर खजांची साहिब बोले, 'महाराज अगर सख्ती न की जाय तो क्या हर्ज है? इससे असर भी अच्छा पड़ता है और अंग्रेजों को नाराज करना भी अच्छा नहीं है इत्यादि'। यह बातें अटक कर और बड़ी मुश्किल से खजांची साहिब के मुंह से निकलीं। इस पर महाराज हंसे और फरमाया 'अरे बात क्या थी जिस के लिए गिड़गिड़ाता है, और हमारा इतना समय खराब किया, साहिब ने कहा होगा, तुम्हारा पण्डित सख्त बोलता है, व्याख्यान बन्द हो जायंगे, यह होगा, वह होगा। अरे भाई, मैं हव्वा तो नहीं कि तुझे खा लूंगा। उसने तुझ से कहा, तू मुझ से सीधा कह देता। व्यर्थ इतना समय क्यों गंवाया।' एक विश्वासी पौराणिक हिन्दू बैठा था। बोला 'देखा, यह तो कोई अवतार हैं, दिल की बात जान लेते हैं'।

खैर, यहां तो जो कुछ हुआ सो हुआ। अब व्याख्यान का हाल काबिले जिक्र है। मैंने केशवचन्द्र सेन, लालमोहन घोष, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, एनी बेसेन्ट और अन्य बहुत से प्रसिद्ध व्याख्याताओं के भाषण सुने हैं, और वह भी उनकी बढ़ती के समय में। लेकिन मैं सच्चे दिल से कहता हूँ कि जो असर मुझ पर उस रोज के व्याख्यान ने किया, और जो फसाहत कि मुझे उस रोज के सादे शब्दों में मालूम हुई, वह अब तक तो दिखाई दी नहीं, आगे की ईश्वर जाने। उस रोज आत्मा के स्वरूप पर व्याख्यान था। इसी प्रकरण में महाराज ने सत्य के बल पर बोलना प्रारम्भ किया। पादरी स्काट को छोड़कर पहले दिन

के सब अंग्रेज सज्जन विद्यमान थे। कोई आदमी नहीं हिलता था। सब चुपचाप एकाग्र होकर व्याख्यान सुन रहे थे। मुझे पूरा व्याख्यान तो याद नहीं, यद्यपि उसके असर का अब तक अनुभव करता हूँ, किन्तु कुछेक शब्द मुझे मरते दम तक याद रहेंगे। ऋषि ने कहा, 'लोग कहते हैं कि सत्य को प्रगट न करो। कलेक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे, चक्रवर्ती राजा क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।' इसके बाद उस उपनिषद्वाक्य को पढ़कर जिसमें लिखा है कि आत्मा का न कोई हथियार छेदन कर सकता है, और न उसे आग जला सकती है, गर्जती हुई आवाज में बोले 'यह शरीर तो अनित्य है। इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है। इसे जिस मनुष्य का जी चाहे नष्ट करदे'। फिर चारों ओर अपनी तीक्ष्ण आंखों की ज्योति डालकर सिंह-नाद करते हुए फरमाया, 'लेकिन वह सूरमा वीर पुरुष मुझे दिखलाओ, जो यह दावा करता है कि वह मेरे आत्मा का नाश कर सकता है। जब तक ऐसा वीर इस संसार में दिखाई नहीं देता, मैं यह सोचने के लिए भी तय्यार नहीं हूँ कि मैं सत्य को दबाऊं या नहीं ?"

लम्बे उद्धरण के लिए पाठक क्षमा करें। यह ऋषि दयानन्द की व्याख्यान-शक्ति और निर्भयता का एक अच्छा दृष्टान्त है। जिन लोगों को ऋषि के व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उन पर व्याख्यानों का बड़ा गहरा प्रभाव होता था। ऋषि की भाषण-शक्ति स्वाभाविक थी, उसमें बनावट

था यत्न-पूर्वक भाषा-निर्माण का नाम नहीं था। जो कुछ था, हृदय का शब्द था, एक निर्भय आत्मा का उद्गार था। यही कारण था कि ऋषि का भाषण सदा नया, सदा मनोरंजक और सदा शिक्षाप्रद रहता था।

ऋषि पूरी तरह निर्भय थे। उनके जीवन की घटनायें निर्विवाद रीति से सिद्ध करती हैं कि किसी शारीरिक या मानसिक खतरे से घबराना उनके लिये असम्भव था। 'भय' यह शब्द उनके शब्द शास्त्र से निर्वासित हो गया था।

बरेली में ऋषि दयानन्द का पादरी स्काट से शास्त्रार्थ हुआ था। शास्त्रार्थ बड़ी शान्ति से हुआ। जनता पर उत्तम प्रभाव पड़ा। शास्त्रार्थ में आप बड़ी स्पष्टवादिता से काम लेते थे, परन्तु कभी प्रस्तुत विषय, सभ्यता की सीमा, और सत्य-प्रियता का साथ नहीं छोड़ते थे। प्रतिपक्षी के पक्ष को समझना, समझ कर उसे ठीक रूप में प्रगट करना, और युक्तिपूर्वक उत्तर देना, यह शास्त्रार्थ के स्वर्णीय नियम ऋषि दयानन्द को मान्य थे। केवल शब्दों से ही मान्य नहीं थे, व्यवहार में भी मान्य थे।

बरेली के बाद कई मास तक संयुक्त प्रांत का भ्रमण जारी रहा। शाहजहांपुर, लखनऊ, फर्रुखाबाद, कानपुर, इलाहाबाद और मेरठ आदि नगरों में ऋषि धर्म का प्रचार करते रहे। जहां आर्यसमाज नहीं बने थे, वहां उनकी स्थापना कर देते, और जहां समाज की स्थापना हो चुकी थी, वहां उसके पुष्ट करने का उद्योग करते थे। धर्म-चर्चा का समारोह भी सभी जगह होता रहा।

मेरठ से देहरादून और वहां से फिर मेरठ होते हुए स्वामी जी आगरे पहुँचे। आगरा संयुक्तप्रांत का अन्तिम नगर था, जिसमें ऋषि दयानन्द ने धर्मप्रचार करके आर्यसमाज की स्थापना की। आगरे से संयुक्तप्रांत से विदाई लेकर ऋषि राजपूताने की ओर प्रस्थित हुए।

चौदहवां परिच्छेद
थ्यासोफी से सम्बन्ध

१८७८ ई० के जनवरी मास में ऋषि दयानन्द को अमरीका से आया हुआ निम्न लिखित पत्र मिला:—

To the Most Honourable Pandit Dayanand Saraswati, India.

Venerated Teacher — a Number of American and other students who earnestly seek after. spiritual Knowledge, place themselves at Year feet and pray you to enlighten them. The boldness of their conduct naturally drew upon them public attention and reprobation of all influencial organs and persons whose worldly interests or private prejudices were linked with the established. order.

We have been called atheists, infidels and pagans

We need the assistance not only of the young and enthusiastic, but also of the wise and venerated. For this reason we come to your feet as children to a parent and say, 'look at us, our teacher, teach us what we aught to do. Give us your connsel, your aid.'

See thet we approach you not in pride but humility, that we are prepared to receive your counsel and do our duty as it may be shown to us.

(Sd.) Henry Olcott,
President of the Theosophical Society

सेवा में परम सम्मानित पण्डित दयानन्द सरस्वती, भारतवर्ष।

सम्मानित गुरु।

आध्यात्मिक विद्या से प्रेम रखने वाले कुछ अमेरिकन तथा अन्य विद्यार्थी, अपने को आपके चरणों में रखते हैं और प्रकाश की याचना करते हैं। उन लोगों के साहसिक व्यवहार ने कुदरतन उनकी ओर सर्वसाधारण का ध्यान खेंचा है और उन समाचार-पत्रों तथा व्यक्तियों की ओर से, जिनके दुनियावी हित या निजू संस्कार पहले से विद्यमान स्थिति के साथ बंधे हुए हैं, उनका विरोध किया गया है।

हमें नास्तिक, अविश्वासी और धर्महीन कहा गया। हम केवल युवक और जोशीले लोगों की ही सहायता नहीं चाहते,

बुद्धिमान और सम्मानित लोगों की सहायता भी चाहते हैं। इस कारण हम आपके चरणों में इस प्रकार आते हैं जैसे पिता के चरणों में पुत्र आता है, और कहते हैं— हमारे गुरु महाराज! हमारी ओर देखिये और बताइये कि हमें क्या करना चाहिये।

देखिये कि हम आपकी सेवा में अभिमान से नहीं अपितु नम्रता से आते हैं, और हम आपकी सलाह लेने और दिखाये हुए मार्ग पर चलकर कर्तव्य पालने के लिये उद्यत हैं।

(हस्ताक्षर) हैनरी अल्काट

प्रेसीडेण्ट, थ्योसाफिकल सोसाइटी

यह पत्र थ्योसाफिकल सोसाइटी के प्रधान की ओर से था। यह सोसाइटी १८७५ ई० के नवम्बर मास की १७ तारीख को अमरीका में स्थापित हुई थी। सोसाइटी की संस्थापना मैडेम ब्लैवेट्स्की और कर्नल अल्काट के उद्योग से हुई थी। मैडेम ब्लैवेट्स्की रूस में बसे एक जर्मन परिवार में उत्पन्न हुई थी। १७ वर्ष की आयु में उसका एन० वी० ब्लेवेट्स्की के साथ विवाह हुआ। विवाह के तीन महीने पीछे मैडेम ब्लैवेट्स्की पति को छोड़कर भाग निकली। भागकर बरसों तक मैडेम ने सन्दिग्ध जीवन व्यतीत किया, और अपने पति के जीवित रहते ही मैट्रोविच नाम के एक पुरुष से सम्बन्ध स्थापित किया। बहुत समय तक अपना नाम बदलकर, और उसकी विवाहिता की सी भांति बनकर मैडम ब्लैवेट्स्की मैट्रोविच के साथ रही। इसी सम्बन्ध से एक लड़का भी उत्पन्न हुआ, जिस के बारे में पीछे से मैडम ने बहुतसी आध्यात्मिक कल्पनायें करके लोगों को समझाने

का यत्न किया। मैट्रोविच का साथ छोड़ने पर मैडम बहुत समय तक मिश्र की राजधानी कैरो में रही। यहां पर मैडम को बहुत से जादूगरों और जोगियों से मिलने का मौका मिला, जिन से उसे चमत्कारों का रहस्य पता चला, और स्वयं भी बहुत से हस्तलाघव करने लगी। १८७३ में मैडम मिश्र से अमरीका आगई, और आध्यात्मिक विद्या के विषय में लिखकर अपना निर्वाह करने लगी। मिश्र में सीखा हुआ जादू यहाँ मैडम के बहुत काम आया। Spiritualism पर लेख लिख कर वह अपनी पेट पालना कर लेती थी।

१८७५ के अप्रैल मास में मैडम ने माइकेल थैटले नाम के आर्मीनियन के साथ विवाह कर लिया था। इस विवाह के समय मैडम ने दो झूठ बोले। उसका पहला पति जीता था, तो भी उसने अपने को विधवा प्रसिद्ध करके दूसरे पुरुष से विवाह करा लिया। वह इस समय ४३ वर्ष की थी परन्तु उसने अपने को ३६ वर्ष का लिखाया। यह विवाह भी देर तक स्थिर न रह सका। शीघ्र ही दोनों में झगड़ा हो गया, और तलाक ने असत्यमूलक सम्बन्ध का विच्छेद कर दिया।

रूस में बदनाम होकर मैडम ने अमरीका में आश्रय लिया और आध्यात्मिक विद्या पर लेख लिख कर अपना निर्वाह जारी रखा। १८७४ में मैडम का कर्नल अल्काट से परिचय हुआ। कर्नल अल्काट पहले सिपाही था, परन्तु उस समय एक समाचार-पत्र के संवाददाता के रूप में एक आध्यात्मिक घटना की छान-बीन में लगा हुआ था। दोनों आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा से

निर्वाह करने वाले चिटएडन नाम के नगर में मिले, और मिल कर दोनों ने अनुभव किया कि 'हम एक दूसरे के लिए आवश्यक है' दोनों ने मिलकर आध्यात्मिक ज्ञान की चर्चा को बढ़ाने का यत्न करने का निश्चय किया। दोनों पुस्तकें लिखते और उनकी आय से निर्वाह करते, परन्तु फिर भी अमरीकन लोग उनके दिए हुए ज्ञान को इतना मूल्यवान् नहीं समझते थे कि उन ग्रन्थों से दोनों का गुजारा भली प्रकार हो सके। १८ जुलाई १८७५ का मैडम का एक पत्र है जिसमें वह लिखती हैं:—

"Here, you see, is my trouble. Tomorrow there w ll be nothing to eat. Something quite out of the way must be invented. It is doubtful if Olcotts 'Miracle Club' will help; I will fight to the last."

"मेरी कठिनाई यह है। कल के खाने के लिए कुछ नहीं है। कोई बिल्कुल नया ढंग बनाना चाहिए। यह सन्दिग्ध है कि अल्काट की चमत्कार-सभा कुछ सहायता दे सकेगी। मैं आखिर तक लड़ूंगी।"

भोजन की भी दिक्कत थी। उस दिक्कत को दूर करने के लिए कर्नल अल्काट ने 'मिरेकल-क्लब' नाम से एक चमत्कार दिखाने वाली सभा बनाई थी, परन्तु उससे भी काफी आय नहीं हुई। कुछ पुस्तकें लिखी गई—उनसे अन्न-कष्ट दूर न हुआ। तब आखिर तंग आकर इस युगल ने थ्योसाफिकल सोसाइटी बनाने का निश्चय किया। १७ नवम्बर १८७५ को सोसाइटी की स्थापना

हुई। कर्नल प्रधान बने और मैडम ने मन्त्रिणी का कार्य सम्भाला। खजान्ची का कार्य एक लखपति को सौंपा गया, जिससे सोसाइटी के अधिकारियों की बहुत सी चिन्तायें दूर होगईं।

१८७७ में मैडम ब्लैवट्रस्की की प्रसिद्ध पुस्तक Isis unveiled प्रकाशित हुई। पुस्तक अपने ढंग की अनूठी थी। उसमें प्राचीन धर्मों का समर्थन था, ईसाइयत पर बहुत आक्षेप थे, और जादू तथा चमत्कार की सम्भवता दिखाई गई थी। उस पुस्तक पर वैज्ञानिक और दार्शनिक लोगों ने अधिक्षेप भरी दृष्टि डाली, और ईसाई खिझ गये, परन्तु सर्वसाधारण को अनूठेपन ने बहुत खेंचा। लोगों को उस पुस्तक-लेखिका की लेख शैली अद्भुत लगी। आशा हुई कि समय और श्रम की कीमत निकल आयेगी, परन्तु दैव को कुछ और ही अभीष्ट था। Isis के छपने के कुछ समय पीछे मि० कोलमन ने Isis की आलोचना की, जिसमें यह सिद्ध किया कि मैडम की पुस्तक में कुछ भी नवीनता नहीं है, सब कुछ लगभग सौ पुस्तकों से उद्धृत किया हुआ है। उन्हीं दिनों में मि० होम की Light and Shadows of Spiritualism. नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें थ्यासोफी के लीडरों की पोल खोलने का यत्न किया गया। मि० कोलमैन की आलोचना और मि० होम के आक्रमणों ने थ्यासोफी के नेताओं की स्थिति असम्भव बनादी। ईसाई पहले ही खिझे हुए थे। Isis की पोल खुल जाने से थ्यासोफी के संस्थापक बड़ी विपदा में पड़े। अब तक कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवेट्स्की यदि कुछ थे तो Spiritualist थे— और कुछ नहीं थे। न वह हिन्दू थे, न बौद्ध थे।

यदि आत्मा उनसे बातें करती थी तो किंग जान की। अमेरिका में उनकी स्थिति बहुत बिगड़ गई। उनके लिये उस देश में रहना असम्भव होगया। यह दशा १८७७ में हुई। मैडम ब्लैवेट्स्की ने उस समय एक पत्र लिखा, जिसका निम्नलिखित उद्धरण लेखिका की मानसिक दशा को चित्रित करके बताता है कि युगल को भारत की ओर प्रेरित करने का क्या कारण हुआ, और १८७८ में ऋषि दयानन्द को कर्नल अल्काट की जो चिट्ठी मिली, उसकी तह में क्या बात थी? पत्र में मैडम लिखती है:—

"It is for this that I am going for ever to India, and for very shame and vexation I want to go where no one will know my name. Home's malignity has ruined me for ever in Europe."*

"मैं इसी लिये भारत को जा रही हूँ। लज्जा और खिजलाहट से तंग आकर मैं ऐसी जगह जाना चाहती हूँ जहाँ मेरा नाम कोई न जानता हो। होम के द्वेष ने योरप में सदा के लिए मेरा नाश कर दिया।"

इस प्रकार अमरीका और योरप में बेइज्जत और बदनाम होकर थ्यासोफी के संस्थापकों ने भारत के भोले निवासियों का उद्धार करने का निश्चय किया। इतनी प्रस्तावना को पढ़कर पाठक समझ सकेंगे कि थ्यासोफी के नेताओं ने ऋषि दयानन्द को ऐसे नम्रता

---

* मैडम के पत्रों के उद्धरण जे. ए. फर्कुहर की Modern Religous Movements In India नाम की पुस्तक से लिये गये हैं।

भरे पत्र क्यों लिखे ? वे अमरीका और योरप में बिल्कुल बदनाम हो चुके थे, वहां उनका रहना असम्भव था। भारत में पैर जमाने का यही उपाय था कि किसी शक्तिशाली व्यक्ति का आश्रय लिया जाय। श्रीयुत हरिश्चन्द्र चिन्तामणि से कर्नल अल्काट को ऋषि का परिचय मिला था। उस परिचय से लाभ उठाकर थ्यासोफी के प्रेजीडेण्ट ने ऋषि दयानन्द को अधीनता भरे पत्र लिखने आरम्भ किए।

इस परिच्छेद के प्रारम्भ में जो पत्र दिया गया है, उसके पीछे थ्यासोफी की ओर से हरिश्चन्द्र चिन्तामणि द्वारा स्वामीजी के पास बराबर पत्र आते रहे। २१ मई १८७८ के पत्र में कर्नल अल्काट लिखते हैं:—

"जब मैं यह इशारा देता हूँ कि हमारी सोसाइटी पंडित दयानन्द सरस्वती की और मेरी पथदर्शकता में आर्यसमाज की शाखा विख्यात की जाय, तब मैं उस बुद्धिमान् और पवित्र मनुष्य को शिक्षक और मार्गदर्शक मानने के कारण गर्व का अनुभव करता हूँ।"

२२ मई सन् १८७८ के पत्र में थ्यासोफिकल सोसाइटी रिकार्डिंग के सेक्रेटरी अगस्टस गुस्टम लिखते हैं:—

"आर्यसमाज के मुखिया के नाम

आपको आदरपूर्वक सूचना दी जाती है कि २२ मई १८७८ को न्यूयार्क में थ्योसोफिकल सोसाइटी की कौंसिल का जो अधिवेशन प्रेजीडेण्ट की अध्यक्षता में हुआ था उसमें वाइस प्रेजीडेण्ट ए. विल्डर के प्रस्ताव और कारस्पांडिंग सेक्रेटरी एच. पी. ब्लैवे-

टूल्की के अनुमोदन पर सर्वसम्मति से यह निश्चय किया गया कि सोसाइटी आर्यसमाज से मिल जाने के प्रस्ताव को स्वीकार करती है और यह भी स्वीकार करती है कि इस सोसाइटी का नाम 'दि थ्योसाफिकल सोसाइटी आफ दि आर्यसमाज आफ इण्डिया' रख दिया जाय।

निश्चय हुआ कि थ्योसाफिकल सोसाइटी अपने और यूरोप तथा अमरीका में विद्यमान अपनी शाखाओं के लिये आर्य-समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती को नियमानुसार पथदर्शक या मुखिया अंगीकार करे।"

इस प्रकार थ्योसाफिकल सोसाइटी ने आर्यसमाज से उस समय सम्बन्ध स्थापित किया, जिस समय अमरीका के निवासी सोसाइटी के संचालकों को यह पता नहीं था कि 'कल का भोजन कहां से मिलेगा।' वहां वह खूब बदनाम और तंग थे। ऊपर दिए हुए पत्रों से स्पष्ट होता है कि उस समय सोसाइटी के नेता स्वामी जी को गुरु मानने में अपना सौभाग्य समझते थे, और सब तरह से आर्यसमाज की संस्था में आने को तैयार थे। अन्त को बहुत से पत्र व्यवहार के पीछे, थ्योसाफिकल युगल १८७६ के जनवरी मास में बम्बई पहुँच गया, और जिसे गुरु माना था, उसके चरणों में भेंट रखने की उत्सुकता प्रकट करने लगा।

पहले पहल यह युगल स्वामीजी से सहारनपुर में मिला। इसके पीछे कई स्थानों पर स्वामीजी के साथ यह युगल घूमता रहा। स्वामीजी के शिष्य इन अपने को आर्यसमाजी कहने वाले थ्योसोफिस्टों के व्याख्यान करवाने लगे, और उनका आदर-

सत्कार करने लगे। लगभग एक साल तक यही प्रेम-सम्बन्ध स्थापित रहा, और थ्यासोफिस्टों की भक्ति उमड़ती रही। इतना समय भारत में पांव जमाने और बहुत से शिष्य इकट्ठे करने के लिए पर्याप्त था। अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतवासी युगल की बातों को सुनने और पसन्द करने लगे। लगभग वर्ष भर प्रेम सम्बन्ध जारी रहा, और इसके पीछे नये रङ्ग दिखाई देने लगे।

झगड़े के मुख्य कारण तीन हुए। भारतवर्ष में आकर थ्यासोफिस्ट युगल को ज्ञात हुआ कि जिस व्यक्ति को वह गुरु बनाकर आए हैं, वह गुरु बनकर ही रहेगा, शिष्य नहीं बन सकता। युगल समझता था कि वह पं० दयानन्द को अपनी वृद्धि का साधन बना सकेगा, परन्तु उसे शीघ्र ही ज्ञात हुआ कि यह भारतीय पण्डित ऐसा भोला नहीं कि हथियार बन सके।

दूसरी ओर युगल ने देखा कि भारतवर्ष में अज्ञान और श्रद्धा की मात्रा बहुत अधिक है। कोई भी आदमी आकर गुरु बनना चाहे तो सर्वथा निराश नहीं होगा, कुछ न कुछ शिष्य उसे मिल ही जायंगे। ऐसी दशा में थ्यासोफी के संस्थापकों ने यही उत्तम समझा कि अपनी दुकान जुदा खड़ी की जाय। आने से पूर्व वह आर्यसमाजी थे, आकर शीघ्र ही उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके सिद्धान्त आर्यसमाज की अपेक्षा बौद्धों के साथ अधिक मिलते हैं।

तीसरी शिकायत इन्हीं दो शिकायतों की परिणामरूप थी। थ्यासोफी आर्यसमाज की शाखा थी। जो लोग थ्यासोफी के सभ्य थे, वह वस्तुतः आर्यसमाज के ही सभ्य समझे जा सकते

थे। ऐसी दशा में यह सोचना भी असङ्गत था कि आर्यसमाज के सभासद् थ्यासोफी के सभासद् बनाए जायं। जो मूल संस्था का सभ्य है, उसे शाखा का सभ्य बनने की क्या आवश्यकता है? परन्तु कर्नल अल्काट तथा मैडम ब्लैवेट्स्की ने आर्यसमाज के सभासदों को अपने सभासद बनाना प्रारम्भ किया। इस व्यवहार को स्वामीजी ने अनुचित समझा।

यह तीन बातें मूल में थीं। वह थ्यासोफी के लीडर, जिन्हें अपने सिद्धान्त आर्यसमाज के ऐन अनुकूल दिखाई देते थे, शीघ्र ही संसार के कर्ता ईश्वर से इन्कार कर बौद्धों में नाम लिखाने लगे। अमरीका में मैडम ब्लैवेट्स्की के अन्दर केवल किङ्ग जार्ज की आत्मा प्रवेश करती थी, परन्तु भारत में आते ही हिमालय निवासी महात्मा और उनके प्रतिनिधि महात्मा कूटहुमी से मैडम का परिचय होगया, और हिमालय से सीधे सन्देश पहुँचने लगे।

सब से बड़ा कारण जिस से मतभेद पैदा होगया, यह था कि थ्यासोफी के संस्थापक चमत्कारों को अपने धर्म का सिद्धान्त मानने और उद्घोषित करने लगे। चमत्कारों को वह योगसिद्धि के नाम से पुकारते थे, परन्तु योग के विना ही योग-सिद्धि का दावा करते थे। सिद्धियां भी विचित्र थीं। किसी की गुम हुई वस्तु का पता दे दिया, किसी के दिल की बात बूझने की अटक लगा दी। ऐसे चमत्कार थे, जिन्हें दिखाकर थ्यासोफी लोगों के हृदयों में योग के प्रति श्रद्धा का सञ्चार करना चाहती थी। थ्यसोफी के उस समय के चमत्कारों के दो दृष्टान्त नीचे दिये जाते हैं; उन पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जायगा कि आर्यसमाज के संस्थापक के

विचार थ्यासोफी के विचारों से क्यों नहीं मिल सकते थे।

मैडम ब्लैवेट्स्की शिमले में थीं। प्रसिद्ध मि० ए० ओ० ह्यूम के घर पर कुछ लोगों को निमन्त्रण था। निमन्त्रण में मैडम ब्लैवेट्स्की भी शामिल थीं। भोजन के पीछे यह बात उठी कि मैडम अपना कोई आध्यात्मिक चमत्कार दिखावें। मैडम तय्यार होगईं। घरवालों से उन्होंने पूछा कि 'क्या आप लोगों की कोई वस्तु गुम हुई है?' उत्तर से पता चला कि कुछ रोज हुए, मि० ह्यूम के घर से एक आभूषण गुम हुआ था। मैडम ने कुछ देर तक ध्यान करके बाग का वह स्थान बता दिया, जहां गुम हुई वस्तु गड़ी थी। वस्तु मिल गई, और चमत्कार की धूम दिग्दिगन्तर में फैल गई।

कुछ दिन पीछे इङ्गलिश-मैन, बाम्बे गजट, टाइम्स आव इण्डिया, और सिविल मिलटरी गजट में चिट्ठियां प्रकाशित हुईं, जिनसे रहस्य का उद्घाटन होगया। एक अंग्रेज नौजवान शिमले से बम्बई गया, और वहां वह मैडम से मिला। शिमले में वह मि० ह्यूम के यहां बहुत आया जाया करता था। बम्बई के मि० होर्मस्जी सीरवाई ने गवाही दी कि जैसा गहना चमत्कार से मिला है, ठीक वैसे ही गहने की मैडम ब्लेवेट्स्की ने उससे मरम्मत करवाई थी। रहस्य को खोलकर ऐतिहासिक घटना बना देना कुछ कठिन नहीं है। वह गहना मि० ह्यूम के घर से उड़वाया गया। बम्बई में उसकी मरम्मत करवा कर मैडम अपने साथ शिमले लेगईं और चमत्कार दिखाकर थ्यासोफी की सत्यता सिद्ध कर दी।

दूसरी घटना लाहौर में हुई। १८८३ के अप्रैल मास में थ्यासोफी के महात्माओं का एक चेला लाहौर में पहुँचा। मैडम ब्लैवेट्स्की के शिष्य ने बड़े जोर से उसका ढोल बजाया और यह घोषणा कर दी कि वह चेला चमत्कार दिखायेगा। वह अपनी उङ्गली आगे करेगा; पहले तो उङ्गली को कोई काट ही नहीं सकेगा, यदि काट भी सके तो वह झटपट जुड़ जायगी। भरी सभा में चमत्कार की घोषणा की गई। पहले तो किसी हिन्दू का हृदय ऐसे कठोर कार्य के लिए तय्यार न हुआ, परन्तु जब बहुत देर होगई, और लोगों के दयाभाव का अभिप्राय यह निकाला जाने लगा कि चेले की शक्ति से किसी का हाथ नहीं उठता, तब एक सिख ने हिम्मत करके उङ्गली काट दी। बेचारा चेला चक्कर में आगया। उङ्गली का जुड़ना तो क्या था, बेचारा कई दिनों तक दुःख भोगता और महात्माओं के नाम का जाप करता रहा।

ऐसी घटनाओं को सुनकर आर्यसमाज का संस्थापक ऋषि कैसे चुप रह सकता था। वह दम्भ और धोखे का शत्रु था, वह धर्म में सुलहनामा करने पर विश्वास नहीं रखता था। इधर स्वामीजी को थ्यासोफी के संस्थापकों के असत्य व्यवहार पर घृणा होने लगी, उधर मूर्ख जनता को जाल में फंसाने का खुला अवसर देखकर युगल भी स्वामीजी की शिष्यता से इंकार करने का उपाय सोचने लगा।

कुछ दिनों तक पत्र-व्यवहार जारी रहा। मैडम ब्लैवेट्स्की और कर्नल अल्काट का यत्न यह रहा कि किसी प्रकार आर्य-समाज के सभासदों को थ्यासोफी के चंगुल में फंसाया जाय।

एक ओर थ्यासोफी की ओर से सृष्टिकर्ता ईश्वर से इन्कार, दूसरी ओर चमत्कारों का दम्भ—ऋषि ने आवश्यक समझा कि आर्य-पुरुषों को सचेत कर दिया जाय।

. असौज वदी चतुर्दशी सम्वत् १९३७ को मेरठ के आर्य-समाज का दूसरा वार्षिकोत्सव था। इस उत्सव के अवसर पर श्री स्वामीजी के दो व्याख्यान हुए। इन व्याख्यानों में आपने उन कारणों पर प्रकाश डाला, जिनसे आर्यसमाज थ्यासोफी से जुदा होने पर बाधित हुआ, और यह भी घोषणा की कि किसी आर्यसमाजी को थ्यासोफी का सभ्य न बनना चाहिए। दोनों में कई मौलिक भेद उत्पन्न होगए थे। (१) थ्यासोफिस्ट सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं मानते थे। (२) वह अपने को बौद्ध कहते थे (३) वह हिमालयवर्ती किन्हीं कल्पित महात्माओं के होने, और उनके गुप्त सन्देशों पर विश्वास रखते थे (४) वह सिद्धिओं के नाम पर चमत्कारों का मानते और उनका दावा भी करते थे (५) थ्या-सोफी में ईसाई मुसलमान बौद्ध हिन्दू सब अपने एक दूसरे के विरुद्ध सिद्धान्तों को मानते हुए भी प्रविष्ट हो सकते थे। इस प्रकार थ्यासोफी आर्यसमाज से कोसों दूर चली गई थी। ऋषि दयानन्द की ओर से यह घोषणा आवश्यक होगई थी, अन्यथा आर्यसमाज के नाश का भारी भय था। थ्यासोफी में कई ईसाई भी शामिल हो गये थे। उनमें से अनेक राजकर्मचारी भी थे। थ्यासोफी के संचालक चाहते थे कि राजकर्मचारियों की सहानु-भूति का प्रलोभन देकर ही आर्यसमाज को फुसलाया जाय, परन्तु वह हथियार भी निकम्मा साबित हुआ।

मेरठ में ऋषि दयानन्द की की हुई घोषणा से कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवट्स्की के कल्पित कार्यक्रम को भारी धक्का पहुँचा। वह दिल में सोचे बैठे थे कि अब शीघ्र ही सारे आर्य-समाज हमारे काबू में आजायंगे और थ्यासोफी, जो प्रारम्भ में आर्यसमाज की शाखा बनी थी, उसे खा जायगी। ऋषि के व्याख्यान ने इस मीठे मन्सूबे को तोड़ दिया। उस समय मैडम ब्लैवट्स्की शिमले में थीं। वहां उन्हें स्वामीजी की घोषणा का समाचार मिला। वह बहुत छटपटाईं और मेरठ के बाबू छेदालाल जी के नाम उन्होंने एक चिट्ठी भेजी। चिट्ठी बहुत लम्बी है, इस कारण उसके कुछ आवश्यक उद्धरण ही यहां दिये जाते हैं। चिट्ठी अंग्रेजी में थी, यहां उसका अनुवाद दिया गया है—

..........मेरठ आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव अभी मनाया गया है। उसमें अन्यान्य आर्यसमाजों के सभासद् सम्मिलित थे। ऐसे समय में स्वामीजी ने अपने व्याख्यान में सबके सामने ये विचित्र वचन कहे कि 'जब किसी अन्य सभा-समाज के सभ्य आर्यसमाजियों को अपनी सभा में भरती होने के लिए प्रेरणा करें तो उन्हें यह उत्तर देना चाहिए कि यदि आपकी सभा के नियम और उद्देश्य आर्यसमाज से मिलते हैं तो उसमें सम्मिलित होने से कोई लाभ नहीं है। यदि वे कहें कि हमारे नियम आर्य-समाज के नियमों से भिन्न हैं तो आर्यसमाजियों को उत्तर देना चाहिए कि आर्यसमाज के नियम अखण्डित हैं। जिस सभा के नियम खण्डित हैं, उसमें मिल जानेकी हमें आवश्यकता नहीं है।

यथार्थ में रोम का अभ्रान्तिशील पोप इस से अधिक और क्या कह सकता है। स्वामीजी गर्वित ब्राह्मणों के दावों के विरोधी हैं। उनके कहने का यह तात्पर्य कदापि न होगा।

उन्होंने यह भी कहा था कि "अन्य देशियों के समाज में वैसा मित्र भाव और स्नेह नहीं हो सकता, जैसा कि एक ही मत और देश के आर्य सभासदों में है'.................।

हमने आपके बिना किसी भी आर्यसमाजी को अपनी सभा में मिलाने का यत्न नहीं किया। हां मुम्बई, लाहौर और दूसरे नगरों के आर्यसमाजी हमारी सभा के सभासद् हैं। परन्तु उनको सम्मिलित होने के लिए हमने कभी नहीं कहा।

हमारे नियमों में आर्यसमाज से इतनी प्रतिकूलता है कि हम प्रत्येक सभ्य के धर्म की प्रतिष्ठा करते हैं। प्रत्येक मतावलम्बी को चाहे वह आर्यसमाजी हो, ईसाई हो अथवा मूर्तिपूजक हो, हम सभा में मिला लेते हैं।

....

इसी हेतु से मैंने आपको और दो एक अन्य सज्जनों को सभा में भरती होने की सम्मति दी थी।

रही यह बात कि आर्यसामाजिक हम में मिलें या न मिलें, इसकी हमें परवाह नहीं है। इसमें उन्हीं की और कदाचित् समाजों की हानि है।

पुलिस के सबसे बड़े अधिकारी हण्डरसन महाशय सभा में सम्मिलित हुए हैं। इससे हमारा अभीष्ट सर्वथा सिद्ध होगया। हमारी सभा में सम्मिलित होते हुए उन्होंने कहा कि मैं इसमें इस

लिये मिलता हूँ कि इससे बड़े बडे लाभ पहुंचे हैं। आप और अल्काट ने १८ मास में वह बात प्राप्त करली है जो हम अंग्रेज बहुत वर्षों में भी नहीं कर पाए। उन्होंने यह भी कहा कि हिन्दुस्तानियों और अंग्रेजों के बीच जो खाई है, उसे आप भर रहे हैं। आपके कारण हम उनकी अधिक प्रतिष्ठा करने लगे हैं और वे हमसे घृणा छोड़ रहे हैं। वे हमारे काम की प्रतिष्ठा करते और उसे श्रेष्ठ समझते हैं। मुझे आशा है कि जैसे उनके विचार हैं, वे वैसा ही कर दिखायंगे। परन्तु जब स्वामीजी का प्रसङ्ग चला तो उन्होंने भी यह कहा कि थ्यासोफी के समान स्वामीजी की सम्मति नहीं है। उनके विचार अनिषेधक और उदार नहीं दीखते। आर्यसमाज ईश्वर को हर्ता=कर्ता मानने वालों का एक जत्था है। ऐसी दशा में हम उनको भाइयों के सदृश क्यों मानें ....इत्यादि"

स्वामी जी ने इस पत्र का विस्तृत उत्तर भेजा। उस उत्तर के भी कुछ भाग यहां उद्धृत किये जाते हैं—

"..

प्रथम आप लोगों ने जैसा लिखा था, जैसा प्रथम समागम में विदित किया था, उसके अनुसार अब आपका वर्ताव कहां है ?

वे पत्र छाप कर दिए गए है जिनमें आपने लिखा था कि हम संस्कृत अध्ययन करेंगे, और अपनी सभा को समाज की शाखा बना देंगे। जो पत्र मैंने आपके पास भेजे थे, उनकी नकल भी मेरे पास है। देखिये, थोड़े दिन हुए जब आप से मेरठ में आर्यसमाज और थियासोफी सभा के विषय में बातचीत हुई थी,

उस समय मैंने सबके सामने क्या आपसे नहीं कहा था कि समाज के विषयों से सभा के नियमों में कुछ भी विशेषता नहीं है। यह बात मैंने बम्बई में भी पत्र द्वारा सूचित की थी। वैसे ही मैं अब भी मानता हूँ और कहता हूँ कि आयसमाजस्थों को धर्मादिक विषयों के लिए सभा में मिलना उचित नहीं है।

अब विचारणीय विषय यह है कि ऐसी दशा में थियासफी वालों को आर्यसमाज में मिलना चाहिए अथवा आर्यसमाजियों को उस सभा में। देखिये, मैंने अथवा किसी आर्य सभासद् ने आजतक किसी भी थियासोफिस्ट को आर्यसमाज का सभासद् बनाने का यत्न नहीं किया। आप अपने आत्मा में विचारिये कि आपने क्या किया और क्या कर रही हैं ? आपने कितने ही आर्यसमाजियों को अपनी सभा में भर्ती होने के लिये प्रेरणा की। कई सज्जनों से सभासद् बनने का दश रुपये चन्दा भी लिया।

अन्य देशियों के समाज में भिन्नता और स्नेह वैसा कभी नहीं हो सकता, जैसाकि स्वदेशियों के समाज में होता है—यह बात मैंने उस समय कही थी, अब कहता हूँ और आगे भी कहूंगा। परन्तु ऊपर की बात मैंने जिस प्रसंग पर कही थी वह यह है कि "असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे" अर्थात् जिनका देश एक है, भाषा एक है, जन्म और सहवास एक है, जिनके विवाहादि सम्बन्ध परस्पर होते हैं, उनको परस्पर जितना लाभ होता है, उनकी जितनी परस्पर प्रीति होती है, उतना लाभ और उन्नति

भिन्न देशवासियों को भिन्न देशवासियों से नहीं हो सकती। देखिये, केवल भाषा का ही भेद होने पर मुझको और यूरोपियन महाशयों को परस्पर उपकार करने में कितनी कठिनता होती है।

....

आप जो लिखती हो कि 'आपके बिना बम्बई, लाहौर और दूसरे नगरों के आर्यसामाजिक हमारी सभा में सम्मिलित हैं। परन्तु हमने उनको भरती होने के लिए कभी नहीं कहा' यह सत्य नहीं है। आपने बम्बई में श्री समर्थदानजी आदि को, और प्रयाग में पण्डित सुन्दरलालजी आदि सभ्यों को सभा में सम्मिलित होने के लिए अवश्य प्रेरित किया। इसका साक्षी मैं ही हूँ। मैं जब तक न सुनता, तो इसका पता मुझे कैसे हो सकता था। जैसे मेरा नाम सभा के सभासदों में लिखती हो, वैसा अन्यत्र भी आपने किया होगा। यह बात निःसन्देह है।

....

इससे मैं आपसे पूछता हूँ कि आपका धर्म क्या है? यदि आप कहें कि हमारा धर्म अमुक धर्म से विरुद्ध है, तो विरुद्ध धर्म वाला मनुष्य आपकी सभा में नहीं मिल सकता। यदि यह कहो कि हमारा धर्म किसी के विरुद्ध नहीं है तो उसमें कोई काहे को मिलेगा?

....

आप ईश्वर को हर्ता-कर्ता नहीं मानतीं यह इसी १९३७ के भाद्रपद मास की बात है। इस विषय में आपने पहले कुछ नहीं कहा। हां, प्रमोददास मित्र और डा० लाजरस ने मुझसे

काशी में इसकी चर्चा की थी। प्रमोददास को मैंने कहा कि आप मैडम का आशय नहीं समझे होंगे। मैंने दामोदर द्वारा आपसे पुछवाया तो उसने कहा कि वे ईश्वर को मानती हैं। क्या उक्त वार्ता असत्य है ?.... ....

मैं और सभी आर्य-सज्जन सदा से यही मानते आये हैं कि सामान्यतया आर्यावर्त इंग्लैण्ड और अमरीका आदि सकल भूमण्डल के मनुष्य भाई हैं, परस्पर मित्र हैं और समान हैं। पर मानते हैं धार्मिक व्यवहारों के साथ, न कि असत्य और अधर्म के साथ।

यहां अंग्रेज आर्यों को चाहे जैसा माने। कोई राज्याधिकारी हो अथवा व्यावहारिक हों; मुझ को भी चाहे अपनी समझ के अनुकूल यथेष्ट मानें। परन्तु मैं तो सब मनुष्यों के साथ सुहृद्भाव से वर्तता हूँ और वर्तता आया हूँ। इन लोगों का यह कहना कि हम इसका कोई दृढ़ हेतु नहीं देखते कि स्वामीजी के अनन्तर अन्य आर्यसमाजियों से भी वैसा ही वर्तें, तब तक है जब तक वे आर्यावर्तीय आर्यों का पूर्व इतिहास, आचार-नीति विद्या, पुरुषार्थ आदि उत्तम गुणों को नहीं जानते; वेदादि शास्त्रों के सच्चे अर्थ को नहीं समझते। जब उनको ऊपर की बातों का ज्ञान हो जायगा तो उनका भ्रम अवश्य दूर हो जायगा।

....

आपको स्मरण होगा कि काशी की चिट्ठी के उत्तर में आपने मुझे लिखा था कि यदि आप भी वेदों को छोड़ दें तो भी हम नहीं छोड़ेंगे। आपकी यह बात धन्यवाद और प्रशंसा के

योग्य है। यदि सभी यूरोपियन इस उत्तम बात में सहमत हो जायं तो कैसा आनन्द हो। और यदि वे लोग इस सिद्धान्त को न भी मानें तो हम आर्यों और आर्यसमाजों की कोई हानि नहीं हो सकती। हम तो सृष्टि के आदि से वेदों को मानते चले आए हैं। क्या हुआ जो थोड़े समय से, अज्ञानवश, कुछ आर्य-लोग वेदविरुद्ध चलने लग गए हैं।

इस अवस्था में जिसका जी चाहे आर्यसमाज में मिले। उनके न मिलने से हमारी कुछ हानि भी नहीं हो सकती। हां, उनकी हानि अवश्य है। हम तो सब की उन्नति में अपनी उन्नति करना इष्ट मानते हैं। हमारी कामना भी यही है।"

इस पत्र-व्यवहार से दो-तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं। थ्यासोफी के संचालक भारत के भोले हिन्दू और कुछेक अंग्रेजों का सहारा पाकर शिष्यता को त्याग चुके थे। वह लोग, जो शिष्य बन कर स्वामीजी के चरणों में बैठ कर योग का अध्ययन करने आए थे, स्वयं गुरु और योगी बन बैठे थे। जो सोसाइटी आर्यसमाज की शाखा बनने में अपना सौभाग्य समझती थी वह आर्यसमाजियों को अपने में सम्मिलित होने का निमंत्रण दे रही थी। वह विनय और शिष्यभाव, गर्व और गुरुभाव में परिणत हो गए थे। कल के वेदानुयायी विद्यार्थी, आज सर्वमत वादी आचार्य बन रहे थे।

मेरठ के व्याख्यान और ऊपर उद्धृत किये पत्रों ने आर्यसमाज और थ्यासोफी का सम्बन्ध तोड़ दिया। १८८२ ई० के मई मास में आर्यसमाज के सामयिक पत्रों में हम यह घोषणा

पाते हैं कि 'आर्यसमाज और थ्यासोफी का सम्बन्ध टूट गया है।'

आर्यसमाज से टूट कर थ्यासोफी क्या बनी, और किधर चली, इसे यहाँ दिखाना अभीष्ट नहीं है। केवल यह दरशाने के लिये कि थ्यासोफी के रूप-परिवर्तनों की तह में कौनसा कारण था, हम उस पत्र की कुछ पंक्तियां उद्धृत करते हैं, जो १९२२ में थ्यासोफी से त्यागपत्र देते हुए, सोसायटी के पुराने सेवक मि० बी० पी० वाडिया ने लिखी थी। आपने लिखा था—

It (the Theosophical society) is no more a society of seekers of the wisdon but an organisation where many believe in the few and blind following has come to prevail; where shams pass for realities and the credulity of supursttion gains encouragement and where the noble ideals of the Theosophical Ethics are exploited and dragged in the mire of Psychism and immorality. ... ...Time, energy and money spent in the T. S. have brought the further knowledge that the existing conditions in the T. S. are so deep rooted and so widespread that the disease is incurable, etc.... ...

थ्योसाफिकल सोसाइटी सचाई के पहिचानने का यत्न करने वालों की एक संस्था नहीं रही। यह एक ऐसी संस्था बन गई है जहां थोड़े व्यक्तियों पर अधिक व्यक्तियों का विश्वास है, जहां अन्ध-परम्परा का राज्य है, और जहां थ्योसाफिकल आचार-शास्त्र के उत्तम आदर्श भूतवाद और अनाचार के कीचड़ में घसीटे जाते हैं .... थ्योसाफिकल सोसाइटी पर जितना समय, शक्ति और धन व्यय किया जाता है, उन्होंने यह साबित कर दिया है कि सोसाइटी की बुराइयां इतनी गहराई तक पहुँची

हुई हैं, और इतनी विस्तृत हैं कि उनका इलाज करना कठिन है' इत्यादि।

मि० वाडिया सोसाइटी के स्तम्भों में से एक थे। उन्होंने सोसाइटी के बारे में जो अन्तिम सम्मति दी है, वह सिद्ध करती है कि आर्यसमाज से सोसाइटी का सम्बन्ध तोड़ने में ऋषि दयानन्द ने कोई भूल नहीं की। प्रारम्भिक दशा की ही कमजोरियां थीं जो पीछे से ऐसा भयङ्कर रूप धारण करके मि० वाडिया जैसे भक्तों के डरने का कारण बनी।

—:—:—

पन्द्रहवां परिच्छेद

राजपूताने में कार्य

राजपूताने से स्वामीजी को बराबर निमन्त्रण आ रहे थे। चिरकाल से उनका विचार था कि राजपूताने के राजाओं का सुधार किया जाय। कई अवसरों पर ऋषि ने यह विचार प्रकट किया था कि भारतका भला तभी होगा, जब रजवाड़ेका उद्धार होगा यदि राजा लोग सुधर जायं तो प्रजा के सुधरने में क्या विलम्ब हो सकता है! यह विश्वास ऋषि के हृदय में घर कर गया था। यही कारण था कि थोड़ी देर के लिये अपने विस्तृत कार्यक्षेत्र संयुक्तप्रान्त और पंजाब की ओर पीठ करके ऋषि राजपूताने की ओर रवाना हुए।

५ मई १८८१ के दिन ऋषि दयानन्द राजपूताने के हृदय-स्थानीय अजमेर शहर में पहुँचे, और धर्म का प्रचार आरम्भ किया। लगभग डेढ़ मास तक ऋषि का सिंहनाद अजमेर निवासियों के हृदयों को धर्म के मन्दिर में निमन्त्रण देता रहा। जून के अन्त में ऋषि ने अजमेर से मसूदा रियासत की ओर प्रस्थान किया। मसूदा नरेश ने स्वामीजी का बड़ी भक्ति से स्वागत किया। धर्मप्रचार का अटूट क्रम जारी रहा। इस रियासत में बहुत से हिन्दू ऐसे थे, जो मुसलमानों के राज्य समयमें मुसलमान हुए राजपूतों को लड़कियां देने में कुछ भी संकोच नहीं करते थे। स्वामीजी ने उन लागों को समझाया कि जिनका धर्म भिन्न है, उन्हें कन्या देकर अपनी कन्याओं को धर्मच्युत करना कभी न्याय नहीं है।

मसूदा से ऋषि दयानन्द रायपुर रियासत में पहुँचे। रायपुर के ठाकुर ने बड़ा सत्कार किया और धर्मप्रचार का प्रबन्ध कर दिया। यहां के मन्त्री शेख इलाहीबख्श नाम के एक मुसलमान थे, इस कारण रियासत में मुसलमानों का काफी जोर था। यहां पर काजी जी से खूब बहस रही, जिसका परिणाम अच्छा हुआ। रायपुर से आसन उठाकर स्वामीजी ब्यावर और बड़ौदा होते हुए २६ अक्टूबर १८८१ को आर्यजाति के केन्द्र, राजपूताने के शिरोमणि, चित्तौड़गढ़ में विराजमान हुए।

चित्तौड़गढ़ में उस समय बड़ी धूमधाम थी। लार्ड रिपन ने चित्तौड़ में एक बड़ा दरबार बुलाया था। राजा-महाराजा इकट्ठे हुए थे और सत्संग का बड़ा सुन्दर अवसर था। स्वामीजी का

अतिथ्य उदयपुर रियासतकी ओर से था वहां के राजकवि श्यामलदासजी स्वामीजी के भक्त थे, उन्होंने ठहरनेका तथा विश्राम का पूरा प्रबन्ध कर रखा था। इस राजपूतों के संघ में स्वामीजी को प्रताप और दुर्गादास की सन्तान की दशा देखने का अवसर मिला। कहां वह स्वाधीन शेर—कहां यह राज्य और इन्द्रियो के बंधुए। ऋषि ने राजपूताने की दशा को रोते हुए हृदय से देखा। जो लोग वीरता के आदर्श, मान के पुजारी और स्वाधीनता के पुतले थे, वह ऋषि दयानन्द को विलास के दास, अफीम के पुजारी और अंग्रेजी सरकार के बंधुए दिखाई दिये। ऋषि के शिष्य स्वामी आत्मानन्दजी ने एक घटना बताई है। अपने शिष्यों के साथ ऋषि एक दिन चित्तौड़गढ़ का किला देखने गये। जिस ऋषि दयानन्द की आंखों में पिता माता और बहिनों का वियोग तरी न ला सका, चित्तौड़गढ़ की दशा देख कर उनकी आंखों से झर झर आंसू बहने लगे। ऋषि ने एक ठंडी सांस लेकर निम्नलिखित आशय के वाक्य कहे। "ब्रह्मचर्य का नाश होने से भारतवर्ष का नाश हुआ है, और ब्रह्मचर्य का उद्धार करने से ही फिर देश का उद्धार हो सकेगा। आत्मानन्द! हम चित्तौड़गढ़ में गुरुकुल बनाना चाहते हैं।"

स्वामीजी के व्याख्यानों में कई राजा नियमपूर्वक आया करते थे। शाहपुरा रियासत के नाहरसिंहजी स्वामीजी के भक्तों में से थे। वह सत्संग में प्रायः रोज आते थे। महाराणा सज्जनसिंह अब तक स्वामीजी के दर्शनों को नहीं आये थे। एक दिन उपदेश में एक भक्त-मूर्ति राजपूत पधारे। सब राजपूतों ने उन्हें

बड़ा आदर दिया। व्याख्यान के अन्त में ऋषि ने शाहपुराधीश से कहा कि 'आपका (अभ्यागत महोदय का) पहले तो कभी साक्षात्कार नहीं हुआ दीखता। आप की शोभा वर्णन कीजिए। शाहपुराधीश ने उत्तर दिया कि "आप महाराणा श्री सज्जनसिंह जी हैं।" इस प्रकार इन दो महान व्यक्तियों का परिचय हुआ। महाराणा सज्जनसिंह यों तो अन्य राजपूत राजाओं की भांति ही पराधीन थे, परन्तु पराधीनता में भी उनके अन्दर एक विशेष महानुभावता पायी जाती थी। उनका हृदय विशाल था, विचार उदार थे, चरित में स्वाधीनता की बू थी। उस समय से ऋषि की मृत्यु-पर्यन्त दोनों महानुभावों का गुरुशिष्यभाव अटूट और सन्निहित रहा।

चित्तौड़गढ़ की एक और घटना भी स्मरणीय है। ऋषि दयानन्द अपने कुछ भक्तों के साथ घूमने जा रहे थे, रास्ते में एक वटवृक्ष के नीचे दो तीन मूर्तियां थीं। जब पास से गुजरे तो ऋषि ने अपना सिर झुका दिया। इस पर एक शिष्य ने कहा कि 'महाराज ! चाहे देवमूर्ति का कितना खण्डन कीजिए, पर उसका ऐसा प्रभाव है कि पास जाकर सिर झुक ही जाता है।' इस पर ऋषि खड़े हो गये। पास ही छोटे छोटे बालक खेल रहे थे। उनमें एक चार वर्ष की नंगी बालिका भी थी। ऋषि ने उधर इशारा करते हुए कहा कि 'देखते नहीं हो, यह मातृशक्ति है, जिसने हम सबको जन्म प्रदान किया है। सब शिष्यों पर इस वाक्य का अपूर्व प्रभाव हुआ। ऋषि के मन में स्त्री जाति के प्रति वैसा घृणा का भाव नहीं था, जैसा प्रायः सन्यासी या विरक्त

दिखाया करते हैं। जो मनुष्य एक चार वर्ष की बालिका में माता की भावना कर सकता है, वह स्त्रीजाति के प्रति कैसी प्रतिष्ठा का भाव रखता होगा और उसका हृदय कितना पवित्र होगा, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है।

१८८२ के प्रारम्भ में स्वामीजी को बम्बई आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर जाना था। जब विदा होने का समय आया तो महाराणा सज्जनसिंह ने स्वामीजी से प्रार्थना की कि 'भगवन्! उदयपुर में यथासम्भव शीघ्र ही दर्शन दीजिएगा।' ऋषि ने वादा भी कर लिया।

बम्बई का वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से हुआ। यहां की दो घटनायें वर्णन योग्य हैं। प्रथम यह कि यहां स्वामीजी ने थ्योसोफिकल सोसाइटी के आर्यसमाज से पृथक् होने की अन्तिम सूचना दी। दूसरी यह कि बम्बई आर्यसमाज ने अपने पहले से निश्चित किये विस्तृत नियमों को छोड़कर लाहौर आर्यसमाज के स्वीकृत नियमों को स्वीकार कर लिया।

यहां इन्हीं दिनों पादरी यूसुफ ने एक व्यख्यान दिया, जिसमें यह सिद्ध करने का यत्न किया कि ईसाई धर्म ही ईश्वरीय है, शेष सब धर्म अनीश्वरीय हैं। स्वामीजी ने इस व्याख्यान के उत्तर में पादरी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। पादरी महाशय शास्त्रार्थ के लिए तय्यार न हुए। स्वामीजी ने सार्वजनिक व्याख्यान देकर पादरी महाशय के दावे का भली प्रकार खण्डन कर दिया। बम्बई से चल कर खण्डवा, इन्दौर और रतलाम में प्रचार करते हुए ऋषि दयानन्द ११ अगस्त १८८२ को फिर उदयपुर

पहुँच गये। ठहरने का प्रबन्ध महाराणा जी की ओर से था। सज्जन-निवास बाग में ऋषि का आसन जमाया गया।

ऋषि दयानन्द प्रायः कहा करते थे कि प्रजा का सुधार राजा के सुधार पर अवलम्बित है। जहां कहीं भी ऋषि को अवसर मिलता, वह शासकों के सुधार में यत्नवान् रहते थे। उदयपुर में पहुँचकर आपने महाराणा के जीवन में परिवर्तन लाने का उद्योग किया। ऋषि को राजपूतों पर बड़ा विश्वास था और उनमें से भी प्रताप के वंशजों पर तो विशेष आशा थी। थोड़े ही समय में आपने महाराणा सज्जनसिंह के जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन पैदा कर दिया। आजकल के भारतीय रईसों में जितने दोष होते हैं, महाराणा में स्वामीजी के आने से पूर्व वह सभी थे। विलासिता, शराब, वेश्यागमन आदि कुवृत्तियों और मूर्तिपूजा, बलिदान के आदि भ्रमात्मक विश्वासों ने महाराणा को घेरा हुआ था। स्वामीजी के उपदेश से बहुत शीघ्र ही सुधार होने लगा। महाराणा ने हर रोज स्वामीजी से पढ़ना प्रारम्भ किया। उन्हें संस्कृत का कुछ अभ्यास पहले से था। शास्त्रों के पढ़ने में उन्हें कोई विशेष दिक्कत न हुई। स्वामीजी ने उन्हें विशेष आग्रह से मनुस्मृति का राजप्रकरण पढ़ाया। वहां राजा के धर्मों का अनुशीलन करके महाराणा की आंखें खुल गईं। उन्होंने जीवन का सुधार आरम्भ कर दिया। महाराणा ने अपना समय-विभाग निश्चित कर लिया। प्रातःकाल उठने लगे, संध्योपासन नियमपूर्वक होने लगा, शराब और वेश्यागमन का त्याग कर दिया। राज्य-

कार्य से शेष समय में महाराणा सत्संग और ऋषि से शास्त्रों का अध्ययन करते। धीरे-धीरे महाराणा ने वैशेषिक-पातञ्जल और योग दर्शन पढ़ लिये और प्राणायाम की विधि भी ऋषि से सीख ली।

यहां उन दिनों पण्डित विष्णुलाल मोहनलाल जी पण्ड्या राज्य के कार्यकर्ताओं में थे। पण्डितजी ऋषि के भक्त थे। वह प्रायः स्वामीजी से ज्ञान चर्चा किया करते थे। एक दिन निम्नलिखित आशय की बातचीत हुई—

पण्ड्या जी ने पूछा—'भगवन्! भारत का पूर्ण हित कब होगा? यहां जातीय उन्नति कब होगी?'

स्वामीजी ने उत्तर दिया—"एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाये बिना भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर कार्य है। सब उन्नतियों का केन्द्रस्थान ऐक्य है। जहां भाषा भाव और भावना में एकता आ जाय, वहां सागर में नदियों की भांति सारे सुख एक-एक करके प्रवेश करने लग जाते हैं। मैं चाहता हूँ कि देश के राजे-महाराजे अपने शासन में सुधार और संशोधन करें। अपने राज्य में धर्म, भाषा और भावों में एकता उत्पन्न कर दें, फिर भारत भर में आप ही आप सुधार हो जायगा।" (श्रीमद्दयानन्द प्रकाश)

ऋषि ने एक दिन कविराज श्यामलदास जी से कहा कि 'मेरे मरने के पश्चात मेरी अस्थियों को किसी खेत में डाल देना, कोई समाधि या कोई चिन्ह कभी न बनाना।'

कविराज ने कहा—"महाराज! मैंने सोच रखा था कि

अपनी एक पत्थर की मूर्त्ति बनवाऊं और उसे किसी जगह रख दूं ताकि मेरे पीछे वह मेरा स्मारक समझा जावे।"

स्वामीजी ने तुरन्त कहा—

"देखो कविराज जी! ऐसा भूल कर भी मत करना। बस यही तो मूर्त्तिपूजा की जड़ हुआ करती है।"

ऋषि के यह वाक्य स्मरणीय हैं। ऋषि मूर्त्तिपूजा को हानिकारक समझते थे। वह जानते थे कि लोग असली आशय को भुला कर स्थूलरूप में उलझ जाते हैं। ऋषि जीवित-जागृत स्मारकों को मानते थे, जड़ या मुर्दा स्मारकों को नहीं। ऋषि अपना स्मारक आर्यसमाज को, वेदभाष्य को और परोपकारिणी सभा को मानते थे, किसी शिला या मकान को नहीं। जड़ स्मारक स्वामीजी के आशय के प्रतिकूल था।

एक दिन महाराणा सज्जनसिंह अकेले में ऋषि दयानन्द से बोले कि "महाराज! यदि आप देशकालोचित समझ कर मूर्त्तिपूजा का खण्डन करना छोड़ दें तो अति उत्तम हो क्योंकि आप जानते हैं कि यह रियासत एकलिंगेश्वर महोदय के आधीन चली आती है। यदि आप स्वीकार करें तो इस मन्दिर के महन्त बन सकते हैं। वैसे तो यह राज्य भी उसी मन्दिर के समर्पित है, परन्तु मन्दिर के नाम जो राज्य का भाग लगा हुआ है, उसकी भी लाखों की आय है। उस पर आपका अधिकार हो जायगा।"

ऋषि को क्रोध नहीं आता था, परन्तु अपने शिष्य की इस बात से वह भी झुंझला उठे। ऋषि ने उत्तर दिया—

"महाराणा जी ! आप मुझे लालच देकर उस सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की अवज्ञा करने पर उद्यत कराना चाहते हैं। ये आपके मंदिर और ये आपकी छोटी सी रियासत (जिससे मैं एक दौड़ में बाहर जा सकता हूँ) मुझे किसी दशा में उस परमेश्वर की आज्ञा के विरुद्ध नहीं कर सकते, जिसके राज्य से कोई कभी किसी प्रकार भी बाहिर नहीं जा सकता। आप निश्चय रखें कि मैं परमात्मा और वेदों की आज्ञा के विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकता।"

यह उत्तर सुन कर महाराणा लज्जित हुए और क्षमा मांगने लगे।

सोलहवां परिच्छेद

परोपकारिणी सभा का निर्माण

ऋषि दयानन्द की दूरदर्शिनी दृष्टि अब समीप आते हुए अन्त को देख रही थी। मेरठ से चलते हुए ऋषि ने आर्यपुरुषों को जो आदेश दिया था, उसके वाक्य बतलाते हैं कि ऋषि भविष्य को देख रहे थे। आपने व्याख्यान में कहा था कि "महाशयो ! मैं कोई सदा बना नहीं रहूँगा ! विधाता के न्याय-नियम में मेरा शरीर भी क्षणभंगुर है। काल अपने कराल पेट में सबको पचा डालता है। अन्त में इस देह के कच्चे घड़े को

भी उसके हाथों टूटना है। सोचो, यदि अपने पांव खड़ा होना नहीं सीखोगे तो मेरे आंख मीचने के पीछे क्या करोगे? अभी से अपने को सुसज्जित कर लो। स्वावलम्ब के सिद्धान्त का अवलम्बन करो; अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के योग्य बन जाओ। किसी दूसरे के सहारे की आशा छोड़ अपने पर ही निर्भर करो"। ऋषि के हृदय में यह चिन्ता थी कि 'मेरे मरने के पीछे सभाओं का संभालने वाला कौन होगा?'

संभालने को बहुत कुछ था। सबसे प्रथम, ऋषि समझते थे कि आर्यसमाजें देश भर में बिखरी हुई हैं। उनका एक केन्द्र-भूत संगठन नहीं है। आपस के लड़ाई-झगड़ों को निपटाने का कोई उपाय नहीं है। दूर दूर के प्रान्तों में स्थापित हुई समाजें एक दूसरे से कोई सहायता नहीं ले सकतीं।

दूसरी चिन्ता ऋषि को विदेश-प्रचार की थी। उस समय तक प्रांतिक प्रतिनिधि-सभायें भी नहीं बनी थीं; सार्वदेशिक सभा का तो अभी विचार ही दूर था। प्रचार का और विशेषतया विदेश प्रचार का कार्य छोटी सभाओं की शक्ति से बाहिर था। ऋषि के चित्त में यह विचार घर किये हुए था कि यदि वैदिक धर्म के योग्य प्रचारक भारत से बाहिर भेजे जांय, तो उन्हें अवश्य सफलता होगी।

इसके सिवा ऋषि ने वेदभाष्य तथा अपने अन्य ग्रन्थ छपवाने के लिये १८८० में, बनारस में वैदिक प्रेस की स्थापना की थी। वह प्रेस अभी तक निराधार था। ऋषि को निरन्तर भ्रमण करना पड़ता था, इस कारण हिसाब में सदा गड़बड़

रहती थी। जब सामने ही यह हाल था, तो पीछे के लिये क्या भरोसा हो सकता था? ऋषि के ग्रन्थ जहां-तहां छपे पड़े थे। उनका एक स्थान में संग्रह और संभालने का यत्न भी आवश्यक था।

इन सब बातों पर विचार करके ऋषि ने एक ऐसी सभा का बनाना निश्चित किया जो इन त्रुटियों को पूरा कर सके। उदयपुर में 'परोपकारिणी सभा' का विचार उत्पन्न हुआ और पकाया गया। वहीं वह कार्य में परिणत हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि महाराणा सज्जनसिंह के सुधार ने ऋषि के हृदय को बड़ा सन्तोष दिया। हिन्दूपति के वैदिकधर्मी बन जाने पर ऋषि को यह भान होने लगा कि अब आर्यसमाज निराधार नहीं है। महाराणा की सज्जनता और दृढ़ता को देखकर ऋषि को विश्वास हो गया कि मेरे पीछे आर्यसमाज को लौकिक सहारे की कमी नहीं रहेगी। इसमें सन्देह भी नहीं कि यदि ऋषि के पीछे उनके योग्यतम शिष्य इतना शीघ्र न चल बसते तो परोपकारिणी सभा ऐसी निर्जीव संस्था न हो जाती। परोपकारिणी सभा का निर्माण एक वसीयतनामे के रूप में हुआ। वसीयतनामे का प्रारम्भ इस प्रकार था।

'मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती निम्नलिखित नियमों के अनुसार तेईस (२३) सज्जन आर्यपुरुषों की सभा को वस्त्र पुस्तक धन और यन्त्रालय आदि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूँ और उसको परोपकार सुकार्य में लगाने के लिये अध्यक्ष बनाकर यह स्वीकारपत्र लिखे देता हूँ कि समय पर काम आवे'।

इस प्रकार परोपकारिणी सभा ऋषि की उत्तराधिकारिणी बनाई गई थी। २३ सभासदों में से सभापति का स्थान मेवाड़-पति महाराणा सज्जनसिंह को प्रदान किया गया था। सभासदों में कई राजपूत नरेश और रईस थे। उनके अतिरिक्त देश भर के प्रसिद्ध प्रसिद्ध आर्यपुरुष और ऋषि के शिष्यों के नाम सभासदों की सूचि में प्राप्त होते हैं। रावबहादुर रानडे, रायबहादुर पं० सुन्दरलाल, राजा जयकृष्णदास, ला० सांईदास, पं० श्यामजी-कृष्ण वर्मा आदि महानुभावों को सभा के सभासद् बनाया गया था। परोपकारिणी के सभ्यों की सूचि का ध्यानपूर्वक आलोचन हमें बतला सकता है कि जीवन-काल में ही ऋषि का प्रभाव कितना विस्तृत हो चुका था।

सभा के अन्य उद्देश्यों पर ध्यान देने से ऋषि के महान् उद्देश्य का परिचय मिलता है। पहला उद्देश्य है, स्वामीजी की सम्पत्ति को वेद और वेदांग आदि के पढ़ने पढ़ाने में और वैदिक ग्रन्थों के छपवाने में व्यय करना। शिक्षा का प्रबन्ध और पुस्तक प्रकाशन, यह दो ही विभाग इतने हैं कि एक सभा के लिये पर्याप्त हैं। दूसरा उद्देश्य रखा गया है, देश और देशान्तर में भोजन के लिए उपदेशक-मण्डलियों के प्रबन्ध में सम्पत्ति का व्यय करना। तीसरा उद्देश्य है, भारत के दीन और अनाथ जनों को सहायता देना। कितने विस्तृत उद्देश्य हैं। लेख और वाणी द्वारा देश और विदेश में प्रचार परोपकारिणी सभाका पहला कर्त्तव्य है। दूसरा कर्त्तव्य है, वैदिक शिक्षा का प्रबन्ध। उसका अन्तिम कर्तव्य दीनों और अनाथों को उठना और उनकी सहायता करना

है। ऋषि ने परोपकारिणी सभा के लिये बड़ा भारी प्रोग्राम बनाया था। वह परोपकारिणी को अपना उत्तराधिकारी और आर्यसमाज का रक्षक बनाना चाहते थे।

वसीयतनामे के अन्तिम भाग में सभा के साधारण नियम हैं। सभा में वही रह सकेगा, जो सदाचारपूर्वक जीवन बिताये। दुराचारी को निकाल दिया जायगा। अधिक समय तक कोई स्थान रिक्त नहीं रह सकेगा। यदि सभा में कोई झगड़ा उठे तो सभा में फैसला होने की अन्य कोई भी सूरत होने तक उसे कचहरी में नहीं ले जाना चाहिए। यदि कोई सूरत बाकी न रहे, तो न्यायालय से निर्णय होना चाहिए। यह नियम दिखलाते हैं कि सार्वजनिक संगठनों के निर्माण में ऋषि दयानन्द सिद्धहस्त थे—और सभ्यों की शक्ति को परिमित करने के लाभों को खूब समझते थे।

इन उद्देश्यों से और इन नियमों से ऋषि ने परोपकारिणी का निर्माण किया, और अपनी सार्वजनिक सम्पत्ति सभा को सौंप दी। अपने जीवनकाल में ही प्रेस, पुस्तक आदि सभा को दे दिए। ऋषि को सभा से बड़ी आशायें थी। वह सभा द्वारा केवल अपनी सार्वजनिक सम्पत्ति को ही सुरक्षित नहीं करना चाहते थे, वह राजाओं और अन्य शिक्षित महानुभावों को इकट्ठे बिठा कर एक दूसरे के समीप लाना चाहते थे। वह राजपूताने के अशिक्षित नरेशों को भारत-हित के सार्वजनिक कार्यों में लगाना चाहते थे। परोपकारिणी का निर्माण उस सपने का फल था जो चित्तौड़ की चोटियों पर खड़े होकर ऋषि ने देखा था। ऋषि

इस सभा द्वारा सोये हुए राजपूताना—शेर को जगाना चाहते थे। वह आर्यजाति द्वारा मनुष्य जाति के धार्मिक और सामाजिक उद्धार का नेतृत्व आर्य नरेशों के हाथ में देना चाहते थे।

यह दूसरा प्रश्न है कि परोपकारिणी सभा को कहां तक सफलता हुई ? पूरी सफलता न होने के कारण हुए। पहला कारण तो ऋषि का शीघ्र ही स्वर्गवास था। दूसरा कारण ऋषि के थोड़ा ही समय पीछे उदयपुर-नरेश का देहान्त था। तीसरा कारण यह था कि आर्यसमाज का प्रतिनिधियों द्वारा संगठन बहुत शीघ्र ही बन गया, और आर्य प्रजा की सम्पूर्ण शक्तियां उधर ही लग गईं। अनेक प्रान्तों में, सैकड़ों मीलों की दूरी पर बैठे हुए रईस और समृद्ध महानुभावों के कार्य पर कड़ा निरीक्षण रखने की जितनी आवश्यकता थी, आर्यपुरुष उसे पूरा न कर सके। वह अपनी प्रतिनिधि-सभाओं और धीरे धीरे सार्वदेशिक सभा में इतने लीन हो गये कि परोपकारिणी की सुध न ली। परोपकारिणी भी अनुकूल अवसर जानकर स्वप्नावस्था में पड़ी पड़ी जीवन के दिन काटने लगी।

सत्रहवां परिच्छेद

जीवन का अन्तिम दृश्य

उदयपुर में स्वामीजी १८८३ ईस्वी के फरवरी मास के अन्त तक रहे। मार्च के प्रारम्भ में आप शाहपुरा रियासत की राजधानी में पहुंच गए। शाहपुराधीश राजा नाहरसिंहजी

स्वामीजी के भक्तों में से थे। उन्होंने बड़े भक्ति-भाव से स्वागत किया। अपने विशेष बाग नाहिर-निवास में स्वामीजी का आसन जमाया। प्रतिदिन वैदिक-धर्म का प्रचार होने लगा। महाराज स्वयं प्रतिदिन सायंकाल ३ घण्टे के लिए शिष्य भाव से आते थे, और अध्ययन करते थे। मनुस्मृति, योगदर्शन, वैशेषिक दर्शन आदि के आवश्यक भागों का महाराज ने पाठ समाप्त कर लिया।

स्वामीजी के उपदेशों से प्रेरित होकर महाराज ने महलों में एक यज्ञशाला बनवाई, जिसमें प्रतिदिन हवन कराने का संकल्प किया। मई मास के मध्य तक शाहपुरे में धर्मवृष्टि करके ऋषि १७ मई १८८३ को जोधपुर की ओर रवाना हुए। शाहपुरे से जोधपुर की ओर रवाना होने के समय महाराज नाहरसिंह ने स्वामीजी से कहा कि "महाराज! आप जोधपुर तो जाते हैं, परन्तु वहां वेश्या आदि का खण्डन न करना।" ऋषि ने उत्तर दिया कि "राजन्! मैं बड़े वृक्ष को नहेरने से नहीं काटता, उसके लिए बड़े शस्त्र की आवश्यकता होगी।"

जोधपुर में कर्नल सर प्रतापसिंह और रा० रा० तेजसिंह आदि रईस ऋषि के शिष्य हो चुके थे। वह लोग देर से निमन्त्रण भेज रहे थे। अब समय पाकर ऋषि ने जोधपुर राज्य में भी सुधार का बीड़ा उठाने का संकल्प किया। शाहपुरे से आप अजमेर आए और वहां से जोधपुर के लिए रवाना हुए। अजमेर के आर्यपुरुषों ने ऋषि की सेवा में उपस्थित होकर फिर निवेदन किया कि "अब आप मारवाड़ प्रान्त में पधारते हैं,

वहां के मनुष्य प्रायः गंवार और उजड्ड हैं, और उनका स्वभाव और बर्ताव भी अच्छा नहीं है, इसलिए अभी आप वहां न जाइये।" ऋषि ने उत्तर दिया कि "यदि लोग मेरी उंगलियों की बत्तियां बना कर जलावें, तब भी मुझे कुछ शंका नहीं हो सकती। मैं वहां जाऊंगा और अवश्य वैदिक धर्म का प्रचार करूंगा।"

इस उत्तर को सुनकर सब चुप हो गये परन्तु एक सज्जन ने निवेदन किया कि 'तथापि आप वहां सोच-समझ कर और मधुरता से काम लेना, कारण यह कि वहां के रहने वाले कठोर-हृदय और कपटी होते हैं।' इसका उत्तर ऋषि ने दिया कि 'मैं पाप के बड़े बड़े वृक्षों की जड़ काटने के लिए तीक्ष्ण कुठारों से काम लूँगा, न कि उन्हें बढ़ाने के लिए कैंचियों से उनकी कलम करूंगा।"

जोधपुर में स्वामीजी का भली प्रकार स्वागत हुआ। राजा जवानसिंहजी ने आवभगत की। पीछे से महाराजा प्रतापसिंह और रा० रा० तेजसिंह आदि रईसों ने दर्शन किये और आतिथ्य का उचित प्रबन्ध किया। कुछ दिनों पीछे स्वयं जोधपुराधीश महाराज यशवन्तसिंह भी दर्शनों को आए। ऋषि ने उन्हें बहुत उपदेश दिया। प्रतिदिन सायङ्काल को स्वामी जी सर्व साधारण को धर्मोपदेश करते और फिर दो घंटे तक राजभवन में जाकर महाराज तथा उनके अन्य समीपवर्तियों की शङ्काओं का निवारण करते। महाराज प्रतिदिन ऋषि से कुछ न कुछ सीखते थे। ऋषि ने अपने व्याख्यानों में मूर्ति पूजा,

वेश्यागमन, चक्राङ्कित सम्प्रदाय और इस्लाम का बड़े जोर से खण्डन किया। जोधपुर में यही शक्तियां थीं। जोधपुर के पुजारी बड़े प्रचण्ड थे, महाराज और रईसों पर वेश्याओं का पूरा अधिकार था, रियासत में चक्राङ्कितों का जोर था, और राज्य के मुसाहिब आला भय्या फैजुल्लाखां इस्लाम के खण्डन से बहुत क्षुब्ध हो गए थे। एक रोज उन्होंने स्वामीजी को यहां तक कह दिया कि यदि इस समय मुसलमानों का राज्य होता तो आप ऐसे व्याख्यान नहीं दे सकते और देते तो जीवित नहीं रह सकते थे। स्वामीजी ने उसका उत्तर दिया कि "अस्तु कोई बात नहीं है। मैं भी उस समय दो क्षत्रिय राजपूतों की पीठ ठोंक देता तो वह उन लोगों को अच्छी तरह समझ लेते।"

इस प्रकार जोधपुर में स्वामीजी के शत्रुओं की संख्या बढ़ रही थी। इसी अवसर पर एक और घटना हो गई, जिसने विरोधियों के बल को बहुत बढा दिया। महाराज यशवन्तसिंह का नन्हींजान नाम की एक वेश्या से गहरा सम्बन्ध था। एक रोज अपने निश्चित नियम के अनुसार स्वामीजी दरबार में पहुँचे। उस समय महाराज के पास नन्हीजान आई हुई थी। स्वामीजी के आने का समय जानकर महाराज उसे डोली में रवाना कर रहे थे। डोली उठने से पूर्व ही स्वामीजी को समीप आता देख कर महाराज घबरा गये और डोली को स्वयं कन्धा लगाकर उठवा दिया। ऋषि ने यह देख लिया। इससे उनका चित्त बहुत ही अधिक क्षुब्ध हुआ। उस दिन अपने उपदेश में ऋषि ने राजधर्म का वर्णन करते हुए बताया कि राजा सिंह के समान हैं

और वेश्यायें कुतियों के समान। राजाओं का सम्बन्ध सिंहनियों से ही उचित है, कुतियों से नहीं। महाराज का सिर लज्जा से झुक गया और उन्होंने अपने सुधार का निश्चय किया। नन्हीजान को जब यह समाचार मिला तो वह जल उठी। उसका क्रोध सीमा को पार कर गया।

२६ सितम्बर को रात के समय सोने से पूर्व स्वामीजी ने रोज के नियम से गर्म दूध मंगवा कर पिया। स्वामी जी का रसोइया जगन्नाथ नाम का एक ब्राह्मण था। दूध पीकर स्वामीजी सो गए। थोड़ी देर पीछे पेट में दर्द उठी और जी मचलाने लगा। रात को कई बार वमन हुआ। स्वामीजी ने किसी को सूचना न दी, परन्तु निर्बलता के कारण प्रातःकाल देर में उठे और घूमने न जा सके। घर की शुद्धि के लिए आपने हवन की आज्ञा दी। हवन किया गया। स्वामीजी की दशा और अधिक खराब होने लगी। उदर-शूल, पेचिश और वमन का जोर बढ़ने लगा। डाक्टर सूर्यमलजी स्वामीजी के भक्त थे, पहले उनका इलाज प्रारम्भ हुआ, परन्तु शीघ्र ही दरबार की ओर से डा० अलीमर्दानखां को भेजा गया। इलाज बहुत हुआ परन्तु दशा सुधरने की जगह बिगड़ती ही गई। प्रतिदिन दस्तों की संख्या बढ़ने लगी, मुंह सिर और माथा छालों से भर गये, हिचकी बंध गई और शरीर बहुत ही कृश होने लगा। डा० अलीमर्दानखां का इलाज बिलकुल उलटा पड़ रहा था। इस घातक परिवर्तन की तह में डाक्टर की मूर्खता थी या कोई और गहरा भाव था—यह निश्चयपूर्वक कहने का इतिहासलेखक को तब तक कोई अधिकार नहीं, जब तक कि

किसी एक कल्पना की पुष्टि में कोई पुष्ट युक्ति न दी जा सके। हां यह बात अवश्य सन्देहजनक है कि दशा तो बिगड़ रही थी और डाक्टर साहिब यही बताते थे कि दशा अच्छी हो रही है। ऋषि के शरीर में जहर घर कर गया था। डाक्टरोंने यही सम्मति दी थी कि रोगी को विष दिया गया है। प्रतीत होता है कि कपटियों की प्रेरणा से जगन्नाथ ब्राह्मण ने रात को सोते समय दूध में जहर मिलाकर पिला दिया था। कहा जाता है कि पता लगने पर इस आशङ्का से कि मेरे भक्त रसोइये को सतायें नहीं, दयालु ऋषि ने किराया देकर उसे नैपाल की ओर भाग जाने को कहा था।

इतने कष्ट में भी ऋषि का धैर्य आश्चर्यजनक था। उसे देखकर मित्र और शत्रु दांतों तले उङ्गली दबाते थे। इतना कष्ट और 'आह' तक नहीं! धैर्य से रोग को सह रहे थे और पूछने पर केवल यथार्थ दशा बतला देते थे। शरीर छालों से भरा हुआ था, बोलने में असह्य कष्ट होता था, हिलना-डोलना भी कठिन हो रहा था॥ऐसी दशा में भी ऋषि के मुंह पर न घबराहट थी और न खिजलाहट वही गम्भीर चेहरा था और वही शांत मुद्रा थी। जिन लोगों ने उस दशा में स्वामी दयानन्द को देखा, उन्होंने अनुभव किया कि इस मनुष्य में अवश्य ही कोई दिव्य शक्ति काम कर रही है। उनके हृदयों में यह बात अङ्कित हो गई कि इस महापुरुष के हृदय में निश्चय से परमात्मा की शक्ति काम कर रही है।

स्वामीजी की बीमारी का वृत्तान्त बहुत दिनों तक छिपा

न रहा। अजमेर में समाचार पहुँचते ही आर्यपुरुष जोधपुर के लिए रवाना हुए और स्वामीजी की दशा देखकर आश्चर्यित हो गये। रोग की दशा, इलाज की शिथिलता और सेवा की असुविधा देखकर आर्यपुरुषों ने ऋषि से आग्रह किया कि आप आबू पहाड़ पर चलें। ऋषि ने स्वीकार कर लिया। महाराज को सूचना मिलने पर पहले तो वह बहुत दुःखित हुये परन्तु फिर स्वामीजी का आग्रह देखकर खिन्न मन से आदरपूर्वक विदाई का प्रबन्ध कर दिया। विदाई के समय स्वयं उपस्थित होकर रास्ते के आराम का भली प्रकार प्रबन्ध कर दिया। जोधपुर से डोली में स्वामीजी आबू पर्वत पर गये, परन्तु वहां भी कोई विशेष आराम दिखाई न दिया। तब स्वामीजी के शिष्य उन्हें अजमेर वापिस ले गये। इस यात्रा में उन्हें बहुत शारीरिक कष्ट हुआ, परन्तु अच्छा इलाज करने की और स्वयं-सेवा करने की शिष्यों की प्रबल इच्छा में बाधा डालना उन्होंने उचित न समझा। अजमेर में स्वामीजी को एक कोठी में ठहराया गया, और डा० लक्ष्मणदास जी का इलाज प्रारम्भ हुआ।

ऋषि का मृत्यु-समय निकट आ रहा था। इलाज और सेवा कुछ परिवर्तन पैदा न कर सके। अन्तिम समय का दृश्य एक दर्शक की लेखनी ने जिन सरल शब्दों में चित्रित किया है, हम उससे उत्तम वर्णन नहीं कर सकते, इस कारण उसी को उद्धृत करते हैं :—

"रेल से उतार कर स्वामीजी को पालकी में लिटा दिया गया और सावधानी से उन्हें एक कोठी में ले आये, जो पहले

से इस काम के लिये नियत कर रक्खी थी। उस समय रात के तीन बजे थे। अक्टूबर का अन्त था, लोगों को सर्दी मालूम देती थी परन्तु स्वामीजी के मुंह से केवल 'गर्मी' 'गर्मी' का शब्द निकलता था। कोठी के सब दरवाजे खुलवा दिये गये, तब भी स्वामीजी को शान्ति न हुई। दूसरे दिन डा० लक्ष्मणदास जी का इलाज शुरू हुआ, पर उनकी दशा में कुछ अन्तर न हुआ। एक बार स्वामीजी ने अपने प्रेमीजनों से कहा कि 'हमको मसूदा ले चलो।' इस पर सब ने कहा कि आराम होने पर हम आपको वहां पहुँचा देंगे, इस दशा में बारबार यात्रा करना ठीक नहीं है। इस पर स्वामीजी ने कहा कि 'दो दिन में हमको पूरा आराम पड़ जायगा।' यह उत्तर स्मरण रखने योग्य है। अब स्वामीजी के सारे शरीर में छाले ही छाले दीखने लगे। २९ अक्टूबर को स्वामीजी का शरीर अत्यन्त ही निर्बल हो गया। अपने सेवकों से कहा कि हमें बिठा दो। जब बिठाया गया तो कहा कि छोड़ दो, हमें सहारे की आवश्यकता नहीं है। तब वह कितनी देर तक बिना सहारे बैठे रहे। उस समय सांस जल्दी जल्दी चलरहा था पर स्वामीजी उसे रोक कर बल से फेंक देते थे, और ईश्वर के ध्यान में मग्न हो रहे थे। रात को कष्ट अधिक रहा। दूसरे दिन ३० अक्टूबर को डाक्टर न्यूमन साहेब बुलाये गये। जिस समय उक्त डाक्टर साहिब ने स्वामीजी को देखा तो बड़े आश्चर्य से कहने लगे कि 'धन्य है इस सत्पुरुष को, हमने आजतक ऐसा दिल का मजबूत कोई दूसरा मनुष्य नहीं देखा कि जिसको इस प्रकार नख से शिख तक अपार पीड़ा हो और वह तनिक भी

ऊह या ऊह न करे।' उस समय स्वामीजी के कण्ठ में कफ की बड़ी प्रबलता थी, जिसकी निवृत्ति के लिये डाक्टर न्यूमन ने कई उपाय किए, परन्तु उनसे कुछ लाभ न हुआ। ११ बजे दिन के स्वामीजी का स्वास विशेष बढ़ने लगा; उन्होंने कहा कि हम शौच जायेंगे। उस समय स्वामीजी को चार आदमियों ने उठाया, और शौच करने की चौकी पर बिठा दिया। शौच गये और पानी लिया। आज्ञानुसार पलंग पर बिठाया गया। कुछ देर बैठकर फिर लेट गये। श्वास बड़े वेग से चलता था, और ऐसा प्रतीत होता था कि स्वामीजी श्वास को रोककर ईश्वर का ध्यान करते हैं। उस समय स्वामीजी से पूछा गया कि 'महाराज! कहिये, अब आपकी तबीयत कैसी है?' कहने लगे कि अच्छी है, एक मास के पीछे आज का दिन आराम का है।

इस समय लाला जीवनदास जी ने, जो लाहौर से स्वामी जी को देखने अजमेर गये थे, स्वामीजी के अभिमुख होकर पूछा कि "महाराज! इस समय कहां है?" स्वामीजी ने उत्तर दिया कि "ईश्वरेच्छा में।"

"उस समय श्रीयुत के मुखपर किसी प्रकार का शोक या घबराहट प्रतीत नहीं होती थी। ऐसी वीरता के साथ दुःख को सहन करते थे कि मुंह से कभी हाय या शोक नहीं निकला। इसी प्रकार स्वामीजी को बातचीत करते करते पाँच बज गये, और बड़ी सावधानता से रहे। इस समय हम लोगों ने श्रीयुत से पूछा कि 'कहिये, अब आपकी तबीयत का क्या हाल है?' तो कहने लगे कि 'अच्छा है, तेज और अन्धकार का भाव है।' इस

बात को हम कुछ न समझ सके क्योंकि स्वामीजी इस समय सरल बातचीत कर रहे थे। साढ़े पांच बजे का समय आया तो हम लोगों से स्वामीजी ने कहा कि 'अब सब आर्यजनों को जो हमारे साथ और दूर-दूर देशों से आये हैं, बुलालो और हमारे पीछे खड़ा करदो। कोई सन्मुख खड़ा न हो।' बस आज्ञा पानी थी, वही किया गया।

जब सब लोग स्वामीजी के पास आ गये तब उन्होंने कहा कि चारों ओर के द्वार खोल दो और ऊपर की छत के दो छोटे द्वार भी खुलवा दिये। इस समय पण्ड्या विष्णुलाल मोहन-लाल भी श्रीमान् उदयपुराधीश की आज्ञानुसार आ गये। फिर स्वामीजी ने पूछा—कौनसा पक्ष, क्या तिथि और क्या वार है? किसी ने उत्तर दिया कि कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष की सन्धि अमावस मंगलवार है। यह सुनकर कोठी की छत और दीवारों की ओर दृष्टि की, फिर पहले वेदमन्त्र पढ़े, तत्पश्चात् संस्कृत में ईश्वर की कुछ उपासना की, फिर भाषा में ईश्वर के गुणों का थोड़ा सा कथन कर बड़ी प्रसन्नता और हर्षसहित गायत्री मन्त्र का पाठ करने लगे। तत्पश्चात् हर्ष और प्रफुल्लित चित्त सहित कुछ देर तक समाधियुक्त नयन खोल कहने लगे कि "हे दयामय! हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर! तेरी यही इच्छा है। तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो! अहा तूने अच्छी लीला की।" बस इतना कह स्वामीजी महाराज ने, जो सीधे लेट रहे थे, स्वयं करवट ली और एक प्रकार से श्वास को रोककर एक बार ही निकाल दिया।"

(आर्यधर्मेन्द्र जीवन)

लेखक के शब्द सरल और अकृत्रिम हैं। यह शब्द बताते हैं कि दर्शकों के हृदयों पर उस तपस्वी की मृत्यु का गहरा असर हुआ था। कहते हैं कि लाहौर से पं० गुरुदत्त विद्यार्थी भी लाला जीवनदास जी के साथ ऋषि के दर्शनों को गये हुए थे। पं० गुरुदत्त जी इससे पूर्व अर्ध-नास्तिक थे। विज्ञान के धक्के ने हृदय के ईश्वर विश्वास को हिला दिया था। ऋषि की मृत्यु के दिव्य-दृश्य को देखकर पण्डितजी के कोमल हृदय पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। एक आस्तिक किस शान्ति से मर सकता है, यह देखकर गुरुदत्त का हृदय पिघल गया और जहां नास्तिकता के कारण शून्य हो रहा था वहां विश्वास और श्रद्धा का सुगन्धित पवन बहने लगा। जो अविश्वासी हृदय के साथ मरता है, उसे भविष्य में निराशा दिखाई देती है। जिसे ईश्वर पर भरोसा नहीं, उसके लिये मौत एक अथाह अन्धेरी खाई है। जिसने जीवन में केवल आस्तिकता का दम्भ भरा हो, मृत्यु के समय उसके मुँह पर से पर्दा उठ जाता है और जो प्रत्यक्ष में सन्तुष्ट दिखाई देता था, वह वस्तुतः अशान्तमय दिखाई देता है। मृत्युकाल सब पर्दों को उघाड़ देता है। उस समय कोई भाव छिपा नहीं रहता। ऋषि की मृत्यु बताती है कि उनका हृदय ईश्वर-विश्वास और धार्मिक श्रद्धा से परिपूर्ण था। उनका जीवन उज्वल था, परन्तु मृत्यु उससे भी बढ़कर थी—वह दिव्य थी। इस भूलोक पर ऐसे दृश्य कम दिखाई देते हैं। वह मृत्यु थी, जो नास्तिक हृदय के मरुस्थल में से भी आस्तिकता की सरस्वती बहा सकती थी।

जीवन के समय ऋषि के मित्र भी थे, और शत्रु भी थे; परन्तु मृत्यु ने उन सब भेदों को दूर कर दिया। देश में मृत्यु का समाचार फैलते ही सार्वजनिक सहानुभूति का एक ऐसा शब्द उठा कि छोटे-छोटे विक्षोभ दूर हो गये। ईसाई, मुसलमान, ब्राह्मो, थ्यासोफिस्ट—सभी ने एक स्वर से आर्यजाति के नेता की मृत्यु पर दुःख प्रकाशित किया। जीते-जी जो मुंह संकोचवश मौन रहते थे, वह खुल उठे और भारत के नेताओं और समाचार-पत्रों ने दयानन्द की अकाल मृत्यु को देश के दुर्भाग्य का चिन्ह समझा। सभी प्रकार के भारत-हितैषी सज्जनों ने ऋषि की मृत्यु पर शोक प्रकट किया। आर्यसमाज को कितना कष्ट हुआ होगा, इसकी तो कल्पना ही की जा सकती है। आर्यसमाज का सर्वस्व लुट गया। उसका मूलाधार नष्ट हो गया। समाजें अनाथ हो गईं। उस समय समाजों की जो अनाथ दशा थी, उसकी कल्पना इस समय करना कठिन है। अब तो आर्य प्रतिनिधि सभायें हैं, दर्जनों विद्वान् हैं, पुराने पुराने विश्वासपात्र नेता हैं, और एक के खाली स्थान पर बैठने वाला दूसरा महानुभाव विद्यमान है। उस समय आर्यसमाज और आयसमाजियों को एक दयानन्द का भरोसा था। कोई झगड़ा हो तो वह निपटायें, शास्त्रार्थ हो तो वही पहुंचें, उत्सव की शोभा उन्हीं से हो—सारांश यह कि समाज का सर्वस्व केवल वही थे। आर्यसमाज में जो व्यापी मातम की घटा छा गई, वह यथार्थ ही थी।

आर्यसमाज के बाहिर समझदार हिन्दुओं ने स्वामीजी के वियोग को किस प्रकार अनुभव किया, उसका दिग्दर्शन

पं० बालकृष्ण भट्ट द्वारा सम्पादित, प्रयाग के 'हिन्दी प्रदीप' के लम्बे लेख की निम्नलिखित पंक्तियों से हो सकता है। स्वामीजी की मृत्यु का समाचार सुनाकर प्रदीप ने लिखा था—"हा! आज भारतोन्नति कमलिनी का सूर्य अस्त हो गया। हा! वेद का खेद मिटाने वाला सद्वैद्य लुप्त हो गया। हा दयानन्द सरस्वती! आर्यों के सरस्वती जहाज की पतवार बिना दूसरे को सौंपे तुम क्यों अन्तर्धान हो गये! हा सच्ची दया के समुद्र! हा! सच्चे आनन्द के वारिद! अपनी विद्यामयी लहरी और हितोपदेशरूपी धारा से परितप्त भारत भूमि को आर्द्र कर कहां चले गये? हा! चार दिन के चतुरानन! इस असभ्यताप्रिय मण्डली में आपने अपनी विलक्षण चतुराई को क्यों इस प्रकार सरल भाव से फैलाया?" इसी प्रकार लम्बा खेदपूर्ण लेख लिखकर भट्ट जी ने यह प्रकाशित कर दिया कि जो जन आर्यसमाज के सभासद् नहीं परन्तु आर्यत्व से प्रेम करते थे, वह दयानन्द को आर्य जाति का नेता समझते थे, संकुचित मत का प्रचारक नहीं।

मुसलमान दुनिया के विचारों का प्रतिबिम्ब उस समय के भारतीय मुसलमानों के नेता सर सय्यद अहमदखां की राय में दिखाई दे सकता है। लाहौर के 'कोहेनूर' में आपने लिखा था "निहायत अफ़सोस की बात है कि स्वामी दयानन्द साहिब ने, जो संस्कृत के बहुत बड़े आलम और वेद के बहुत बड़े मुहक्किक थे, ३० वी अक्तूबर १८८३ को ७ बजे शाम के अजमेर में इन्तकाल किया। इलावा इलम ओ फजल के निहायत नेक और दरवेश सिफ्त आदमी थे। इनके मुतअक्कद इनको देवता मानते

थे, और बेशक वह इसी लायक थे। वह सिर्फ ज्योतीस्वरूप निरंकार के सिवा दूसरे की पूजा जायज़ नहीं रखते थे। हमसे और स्वामी दयानन्द मरहूम से बहुत मुलाक़ात थी, हम हमेशा इनका निहायत अदब करते थे। क्योंकि ऐसे आलम और उम्दा शख्स थे कि हरेक मजहब वाले को इनका अदब लाजिम था। बहरहाल ऐसे शख्स थे, जिनका मसल इस वक्त हिन्दुस्तान में नहीं है, और हरेक शख्स को उनकी वफात का ग़म करना लाज़िम है, कि ऐसा बेनज़ीर शख्स इनके दर्मियान से जाता रहा।" इस सम्मति को समझदार मुसलमानों की सम्मति का एक नमूना समझा जा सकता है।

अन्तिम दिनों में स्वामीजी का थ्यासोफिस्टों से बहुत मतभेद हो गया था, परन्तु मृत्यु पर थ्यासोफिकल सोसायटी के नेताओं ने बड़ी सहृदयता से दुःख का प्रकाश करते हुए आंतरिक भक्ति का प्रमाण दिया। स्वामीजी की मृत्यु के समाचार पर थ्यासोफी के मुखपत्र 'थ्यासोफिस्ट' ने हृदय के उद्गार निम्न-लिखित शब्दों में प्रकट किये थे — 'एक महान् आत्मा भारतवर्ष से चल बसी। पं० दयानन्द सरस्वतीजी, जिन्होंने आर्यावर्त में आर्य समाज की बुनियाद रखी थी और इसके सबसे बड़े रुकन वा मुखिया थे, आज दुनिया से कूच कर गये। वह निडर और सरगर्मी से काम करने वाला रिफार्मर जिसकी जबर्दस्त आवाज और पुरजोश वक्तृत्व शक्ति से भारत के हजारों आदमी गत कई वर्षों के समय में प्रमाद और आलस्य के गढ़े

से निकल कर देशभक्ति के झण्डे तले आ गयें थे, आज भारत को वियोग से दुःखी करके स्वर्ग को चला गया।'

थ्यासोफिकल सोसायटी के संस्थापक कर्नल अल्काट ने लिखा था, 'स्वामी जी महाराज निःसन्देह एक महान् पुरुष और संस्कृत के बड़े विद्वान् थे। उनमें ऊंचे दर्जे की योग्यता, दृढ़ निश्चय और आत्मिक विश्वास का निवास था। वह मनुष्य जाति के मार्गदर्शक थे। वह अत्यन्त सुडौल दीर्घाकार, अत्यन्त मधुर स्वभाव और हमारे साथ व्यवहार में दयाशील थे। हमारे दिमाग पर उन्होंने बड़ा गहरा असर छोड़ा है।'

ईसाई लोगों से स्वामीजी का बहुत खिचाव रहता था क्योंकि ईसाइयत की विजय-यात्रा को उत्तरीय भारत में रोकने वाला दयानन्द ही था। मृत्यु पर ईसाइयों की ओर से भी हार्दिक दुःख ही प्रकाशित किया गया। विलायत में समाचार पहुंचा। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० मैक्समूलर ने 'पालमाल गजट' में एक लेख लिखा। उस लेख में प्रोफेसर महोदय ने स्वीकार किया कि स्वामीजी वैदिक साहित्य के बड़े भारी पण्डित थे और प्रसिद्ध सुधारक थे। प्रोफेसर साहिब ने लिखा कि जहां कहीं भी शास्त्रार्थ हुआ, स्वामी दयानन्द की ही विजय हुई। देश के सभी समाचारपत्रों ने ऋषि की मृत्यु को देश का परम दुर्भाग्य बतलाया। इस प्रकार देश भर द्वारा कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किए हुए ऋषि दयानन्द ने दीवाली की रात को अभाग्य भारत-भूमि को छोड़ कर परलोक की यात्रा की।

अठारहवां परिच्छेद

आर्यसमाज का संगठन

इस खण्ड को समाप्त करने से पूर्व आवश्यक प्रतीत होता है कि ऋषि दयानन्द आर्यसमाज को जो संगठन दे गये थे, उस पर थोड़ा सा विचार करें। ऋषि दयानन्द अपने पीछे आर्य-समाजों को, अपने ग्रन्थों को, अपने चरित्र को और कई शिष्यों को छोड़ गये थे। इनमें से हरेक उनका स्मारक है, परन्तु जिस स्मारक की स्थिरता सब से अधिक है, वह आर्यसमाज है। आर्य-समाज ऋषि दयानन्द का स्मारक ही नहीं, वह ऋषि का प्रतिनिधि भी है। ग्रन्थों की, सिद्धान्तों की, संस्थाओं की और वस्तुतः वेदों की रक्षा का बोझ आर्यसमाज पर है। ऋषि दयानन्द ने अपने पीछे अपना प्रतिनिधि आर्यसमाज को बनाया है; इस परिच्छेद में देखना है कि वह प्रतिनिधि बनने के योग्य भी था या नहीं?

आर्यसमाज के संगठन के सम्बन्ध में स्वयं आर्यसमा-जियों में मतभेद है। अनेक विद्वान् आर्यपुरुषों ने भी वर्तमान संगठन (Constitution) से असन्तोष प्रकट किया है। ऋषि दयानन्द के किसी कार्य से असन्तोष प्रकट करना उचित न समझ कर उन महानुभावों ने आर्यसमाज के वर्तमान नियमों तथा उपनियमों के लिये किसी ऐसे सज्जन को दोषी ठहरा दिया है, जिसे वह बुरा समझते थे। यहां तक कि आर्यसमाज के

एक इतिहास-लेखक ने तो आर्यसमाज के वर्तमान संगठन को ही बहुत से वर्तमान दुःखों का मूल मान लिया है !

यह मानना पड़ेगा कि आर्यसमाज का वर्तमान संगठन धार्मिक संसार में नया है। इससे पूर्व किसी धामिक समाज में प्रजासत्तात्मक शासन-प्रणाली का ऐसी पूर्णता से प्रयोग नहीं किया गया। प्रायः सब मत किसी एक अलौकिक प्रभाव के नीचे रहे हैं। रोमन कैथोलिक ईसाई रोम के पोप को अपने धर्म का गुरु मानते हैं, इस्लाम की नजर पहले खलीफा की ओर लगी रहती थी, अब मक्के की ओर लगी हुई है। बौद्ध भिक्षुकों के चुनाव में किसी प्रजामत का हाथ नहीं है। प्रोटेस्टैण्ट-ईसाई-चर्च यद्यपि प्रायः राजकीय शक्ति पर भरोसा रखता है तो भी यह मानना पड़ेगा कि प्रोटेस्टैण्ट चर्च के मुख्य पुरुषों के चुनाव में आम ईसाइयों का कोई हाथ नहीं होता। धर्म के विषय में लोकमत का प्रतिनिधित्व ऋषि दयानन्द से पूर्व केवल एक जगह स्वीकार किया गया था। हजरत मुहम्मद की मृत्यु के पीछे जो खलीफा हुए, वह सर्वसाधारण की ओर से चुने गए। परन्तु शीघ्र ही जो तलवार अबतक इस्लाम और अन्य मतों के झगड़े में सत्यासत्यनिर्णय करने का अन्तिम साधन समझी जाती थी, वही इस्लाम को खिलाफत के अधिकारानधिकार के निर्णय के लिए भी अन्तिम प्रमाण मान ली गई। हजरत अली और उमय्यद वंश की टक्कर में इस्लाम का प्रजासत्तात्मक रूप कुचला गया।

भारतवर्ष के लिये राजनीति में भी प्रजासत्तात्मकवाद नया था। अभी किसी स्थान पर उसका पूर्णतया प्रयोग नहीं हुआ

था। ब्रिटिश सरकार बहुत सम्भल सम्भल कर कहीं कहीं प्रजामत को थोड़ा बहुत स्वीकार कर रही थी। और तो और, स्वयं इंग्लैण्ड में भी पूरा प्रजासत्तात्मक शासन नहीं था। वहां का राजा प्रजा का चुना हुआ नहीं होता, आकस्मिक घटना का चुना हुआ होता है। राजा के घर में जो लड़का पहले पैदा हो गया, वही राजगद्दी का अधिकारी बन जाता है। इसे ऋषि दयानन्द की बुद्धि का अद्भुत चमत्कार कहना चाहिए कि उन्होंने धर्म के क्षेत्र में उस सिद्धान्त का पूर्णता के साथ प्रयोग किया, जिसे अन्य धर्म तो क्या, राजनीति भी अपनाती हुई घबराती थी। मानते सब थे, परन्तु प्रयोग में नहीं ला सकते थे। समझा जाता था कि प्रजासत्तात्मक शासन को चलाने के लिए सदियों के शिक्षण की आवश्यकता है। भारतवासी तो क्या, उनसे अधिक शिक्षित लोग भी उसे काम में नहीं ला सकते थ। ऋषि दयानन्द ने उस सिद्धान्त को केवल भली प्रकार समझा ही नहीं, उसे व्यवहार योग्य बनाकर कार्य रूप में परिणत भी कर दिया; और यह सब कुछ अंग्रेजी और पाश्चात्य शिक्षा से अनभिज्ञ होते हुए किया। यदि ऋषि की परोक्षदर्शिता में किसी को सन्देह हो तो केवल एक इसी दृष्टान्त से उनका संशय दूर हो सकता है।

जो लोग आर्यसमाज के प्रजासत्तात्मक सङ्गठन के गुणों या दोषों के लिए दूसरों को उत्तरदाता ठहराना चाहते हैं, वह ऋषि दयानन्द के साथ अन्याय करते हैं। शायद वह लोग चाहते हैं कि किसी दूसरे व्यक्ति को उत्तरदाता ठहरा देने से उन्हें समालोचना करने की स्वाधीनता मिल जायगी और ऋषि

दयानन्द के ऊपर दोष नहीं लगेगा, परन्तु उनकी ऋषि के प्रति यह भक्ति वस्तुतः उनसे ऋषि पर बहुत बड़ा दोषारोपण करा देती है। उनके कथन का यही तात्पर्य हो सकता है कि ऋषि दयानन्द अपनी कोई सम्मति नहीं रखते थे — आर्यसमाज के सङ्गठन जैसे आवश्यक विषय पर उन्होंने किसी दूसरे की तान पर ही गा दिया है, स्वतन्त्र बुद्धि का प्रयोग नहीं किया। जिस पुरुष ने संसार की पर्वाह न करके एक रास्ता निकाल दिया है, उसके सम्बन्ध में यह कहना कि उसने किसी दूसरे के कहने से आर्य समाज का स्थायी सङ्गठन बना दिया है, लाञ्छन लगाने से कम नहीं है। सम्मति तो सभी लोग लेते हैं, परन्तु चुनाव अपने अधीन होना चाहिये। जो आदमी ऋषि के चरित्र को ध्यान से पढ़ेगा वह निश्चयपूर्वक कह उठेगा कि हरेक विषय में इतिकर्तव्यता का चुनाव ऋषि दयानन्द अपनी मर्जी से किया करते थे।

परन्तु ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज का जो संगठन बनाया है, क्या वह सचमुच इस योग्य है कि किसी दूसरे को उसके बनाने का अपराधी ठहराया जाय? क्या वह आर्य-समाज की उन्नति में बाधक हुआ है?

लेखक की राय है कि आर्यसमाज का जो संगठन ऋषि दयानन्द ने बनाया है, वह बहुत उत्तम है। उससे भारतवर्ष की ही नहीं, अन्य देशों की धार्मिक तथा राज्य संस्थायें भी शिक्षा ले सकती हैं। समय के अनुसार जो छोटे-मोटे परिवर्तन आवश्यक होते जायं उन्हें कर डाला जाय, परन्तु प्रधान अंशों में वर्तमान संगठन श्रेष्ठ है।

आर्यसमाज के संगठन की श्रेष्ठता पर लिखने से पूर्व आवश्यक प्रतीत होता है कि कुछ शब्द इस विषय पर लिखे जायं कि आर्यसमाज क्या वस्तु है ? क्या वैदिक धर्मी मात्र के समूह का नाम आर्यसमाज है ? या वैदिक धर्म के प्रचार के लिए जो सोसाइटी बनाई गई है वह आर्यसमाज है ? दोनों प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट हैं। यह आवश्यक नहीं कि वैदिक धर्मी मात्र आर्यसमाज के सभ्य हों, क्योंकि आर्यसमाज के सभ्य होने के लिए चन्दे की शर्त लाजमी है। सन्यासी चन्दा नहीं दे सकते और न गरीब लोग दे सकते हैं, ऐसी दशा में वह लोग सामान्यतया आर्यसमाज के सभासद् नहीं बन सकते। तब क्या वह वैदिकधर्मी नहीं हैं ? वह वैदिकधर्मी अवश्य हैं। आर्यसमाज से बाहिर भी वैदिकधर्मी हैं और हमेशा रहेंगे। आर्यजगत् आर्यसमाज तक परिमित नहीं है। आर्यसमाज तो उन लोगों की संस्था है जो वैदिकधर्म के प्रचार की अभिलाषा रखते हुए संगठन में शामिल होते हैं।

दृष्टान्त से यह विषय और अधिक स्पष्ट हो जाता है। एक शहर में ३ लाख निवासी निवास करते हैं। उनमें से वोट देने के अधिकारी केवल २५ हजार हैं और उनमें से भी म्युनिसिपल कमेटी के चुनाव में केवल १० हजार निवासी भाग लेते हैं; ऐसी दशा में क्या वह १० हजार निवासी ही शहर के निवासी समझे जायेंगे ? उत्तर 'हां' में नहीं हो सकता। उसी प्रकार आर्यजगत् आर्य समाज से बहुत बड़ा है। आर्यसमाज शब्द भी दो अभि-प्रायों से प्रयुक्त होता है। सामान्यतया हरेक वैदिकधर्मी—ऋषि

दयानन्द की शिक्षाओं को स्वीकार करने वाला हरेक व्यक्ति आर्यसमाजी माना जाता है। आर्यजगत् के लिए आर्यसमाज शब्द का प्रयोग होता है। यह विस्तृत आर्यसमाज है।

आर्यसमाज एक निश्चित सङ्गठन भी है। यह आवश्यक नहीं कि हरेक वैदिकधर्मी आर्यसमाज में सम्मिलित भी हो। आर्यसमाज से बाहिर भी वैदिकधर्मी रह सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्यसमाज उन वैदिकधर्मियों का सङ्घ है, जो वैदिक शिक्षाओं के प्रचार और रक्षणार्थ इकट्ठे होते हैं। वैदिक-धर्मियों का सङ्घ आर्यसमाज से बहुत बड़ा है। यदि आर्यजगत् और आर्यसमाज के भेद को ठीक प्रकार से समझ लें तो यह आक्षेप करने का अवसर नहीं रहता कि सङ्गठन ने आर्यसमाज को संकुचित बना दिया है। संकुचित बनाने का दोष आर्यसमाज के नियमों के बनाने वाले के सिर नहीं मढ़ा जा सकता, यह दोष तो हम लोगों का है जो वैदिक धर्म को आर्यसमाज तक परिमित समझ बैठे हैं। यदि हम इस बात को अवगत करलें कि वैदिक धर्मियों का समूह आर्यसमाज की संस्था से अधिक विस्तृत है, और आर्यसमाज उन लोगों का सङ्गठन है जो वैदिक धर्म के प्रचार तथा रक्षण के लिए सभा में सम्मिलित होने की इच्छा रखते हैं तो सम्पूर्ण कठिनाई दूर हो जाती है। उस दशा में आर्यसमाज का सङ्गठन अत्यन्त उत्कृष्ट प्रतीत होगा।

आर्यसमाज के वर्तमान सङ्गठन की पूर्णता और सुन्दरता को वे लोग भली प्रकार समझ सकेंगे, जिन्होंने भिन्न-भिन्न देशों की राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं का अनुशीलन किया हो।

थोड़ी बहुत बातों में समयानुकूल परिवर्तन होते ही रहते हैं, परन्तु सामान्य सिद्धान्तों में प्रतिनिधित्व की दृष्टि से आर्यसमाज का सङ्गठन एक प्रकार से आदर्श है। सभासद् बनने की शर्त यह है कि ग्यारह मास तक चन्दा देने वाला सभ्य रहा हो। चन्दा आमदनी का शतांश है। गरीब से गरीब आर्यसमाज का सभ्य रह सकता है क्योंकि वोट के अधिकारी होने के लिये कोई राशि निश्चित नहीं है, छोटी से छोटी आमदनी का शतांश है। यही कारण है कि आर्यसमाज कभी अमीरों का सङ्घ नहीं बन सकता। अधिकारियों का चुनाव प्रतिवर्ष होता है। प्रतिनिधियों का चुनाव तीसरे वर्ष आवश्यक है। सर्वसाधारण की सम्मति को जितनी अच्छी तरह आर्यसमाज के नियमानुसार बनी हुई सभायें प्रतिबिम्बित करती हैं शायद ही दूसरी कोई सभायें करती हों। स्विटजरलैण्ड और अमरीका को तो छोड़ दीजिये, साधारणतया अन्य देशों के राजनीतिक सङ्गठन भी लोकमत के ऐसे अच्छी प्रतिनिधि नहीं हैं। सङ्गठन के मजबूत होने का ही यह फल है कि बीसियों धार्मिक और राजनीतिक चोटों को खाकर भी आर्यसमाज की शक्ति वैसी ही बनी हुई है।

आर्यसमाज के सङ्गठन पर एक आक्षेप हो सकता है। एक धार्मिक संस्था के धर्म-सम्बन्धी प्रश्नों को हल करने के लिये जिस प्रकार के प्रबन्ध की आवश्यकता है, वह आर्यसमाज में नहीं है। आर्यसभासदों, आर्य प्रतिनिधि सभाओं या सार्वदेशिक सभा के सभ्यों तथा अधिकारियों में किसी के लिये धार्मिक योग्यता आवश्यक नहीं है। परिणाम यह है कि सम्पूर्ण आर्य संसार में एक भी प्रामाणिक सभा ऐसी नहीं है, जो आर्य जनता

का धार्मिक नेतृत्व कर सके। इसका उपाय करने के कई यत्न हुए हैं। कहीं विद्वत्परिषद् बनी है, तो कहीं आर्यधर्म-सभा की स्थापना हुई है। इसे कई सज्जन सङ्गठन की अपूर्णता कह सकते हैं, परन्तु लेखक की राय है कि सङ्गठन का इतना दोष नहीं, जितना आर्यसभासदों का है। आर्य-प्रतिनिधि-सभाओं में ऐसे विद्वानों की अधिक संख्या को भेजना, जो धर्म के विषय में राय देने का अधिकार रखते हों, आर्य सभासदों का कर्तव्य है। नियमों का इतना ही दोष है कि उन्होंने सम्मति देने वालों को यह स्पष्टता से नहीं बताया कि वह कैसे व्यक्तियों को अपने प्रतिनिधि चुने, किन्तु समझदार पुरुषों को इतने विस्तृत निर्देश की आवश्यकता भी नहीं रहती। आज यदि आर्यसमाज के प्रबन्ध में व्यावहारिक पुरुषों की प्रधानता दिखाई देती है तो उसका कारण केवल आर्यसभासदों की उपेक्षादृष्टि है। आर्य-प्रतिनिधि सभाओं के साथ किसी दूसरी समानान्तर सभा को स्थापित करने का विचार उस आशय के विरुद्ध हैं, जो ऋषि दयानन्द के चित्त में था।

ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज का जो सङ्गठन बनाया है उसकी मुख्य विशेषतायें दो हैं। वह बिल्कुल स्वाधीन और अपने आपमें सम्पूर्ण है, और साथ ही लोकमत का सच्चा प्रतिनिधि है। आर्यसमाज अपने सभासदों की भलाई के लिये किसी अन्य सङ्गठन की अपेक्षा नहीं करता। यदि अवसर आ पड़े तो वह अपने सभासदों की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता है। वह लोकमत को प्रतिबिम्बित करने का उत्तम साधन है। यही दो कारण हैं कि वह स्थिर है। यदि आर्यसमाज का ऐसा अच्छा सङ्गठन न होता तो जो जबर्दस्त झकोरे इसे गिराने के लिए आते रहे हैं, वह कभी के कामयाब हो गए होते।

उन्नीसवां परिच्छेद

स्वामी दयानन्द की महानता

यहां महर्षि दयानन्द और उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ-प्रकाश' के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों द्वारा समय-समय पर प्रकट की गई सम्मतियों का संकलन किया गया है, जिससे उनकी महत्ता का दिग्दर्शन मात्र हो सकता है —

★ दयानन्द का चरित्र मेरे लिए ईर्ष्या और दुःख का विषय है।........ ....

महर्षि दयानन्द हिन्दुस्तान के आधुनिक ऋषियों में, सुधारकों में और श्रेष्ठ पुरुषों में एक थे।

उनके जीवन का प्रभाव हिन्दुस्तान पर बहुत अधिक पड़ा है।

—महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गान्धी

★ मेरा सादर प्रणाम हो उस महान् गुरु दयानन्द को, जिसकी दृष्टि ने भारत के आध्यात्मिक इतिहास में सत्य और एकता को देखा और जिसके मन ने भारतीय जीवन के सब अंगों को प्रदीप्त कर दिया। जिस गुरु का उद्देश्य भारतवर्ष को अविद्या, आलस्य और प्राचीन ऐतिहासिक तत्व के अज्ञान से मुक्त कर सत्य और पवित्रता की जागृति में लाना था, उसे मेरा बारम्बार प्रणाम है।

"....मैं आधुनिक भारत के मार्ग-दर्शक उस दयानन्द को आदरपूर्वक श्रद्धांजलि देता हूँ, जिसने देश की पतितावस्था में भी हिन्दुओं को प्रभु की भक्ति और मानव-समाज की सेवा के सीधे व सच्चे मार्ग का दिग्दर्शन कराया।

—डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर

★ वह दिव्य ज्ञान का सच्चा सैनिक, विश्व को प्रभु की शरण में लाने वाला योद्धा, और मनुष्य व संस्थाओं का शिल्पी तथा प्रकृति द्वारा आत्मा के मार्ग में उपस्थित की जाने वाली बाधाओं का वीर विजेता था और इस प्रकार मेरे समक्ष आध्यात्मिक क्रियात्मकता की एक शक्ति-सम्पन्न मूर्ति उपस्थित होती है। इन दो शब्दों का, जो कि हमारी भावनाओं के अनुसार एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, मिश्रण ही दयानन्द की उपयुक्त परिभाषा प्रतीत होती हैं। उसके व्यक्तित्व की व्याख्या यों की जा सकती है — एक मनुष्य, जिसकी आत्मा में परमात्मा है, चर्म चक्षुओं में दिव्य तेज है और हाथों में इतनी शक्ति है कि जीवन-तत्व से अभीष्ट स्वरूप वाली मूर्ति गढ़ सके तथा कल्पना को क्रिया में परिणत कर सके। वह स्वयं दृढ़ चट्टान थे। उनमें दृढ़ शक्ति थी कि चट्टान पर घन चला कर पदार्थों को सुदृढ़ व सुडौल बना सकें। प्राचीन सभ्यता में विज्ञान के गुप्त भेद विद्यमान हैं, जिनमें से कुछ को अर्वाचीन विद्याओं ने ढूंढ लिया है, उनका परिवर्धन किया है और उन्हें अधिक समृद्ध व स्पष्ट कर दिया है, किन्तु दूसरे अभी तक निगूढ ही बने हुए हैं।

इसलिए दयानन्द की इस धारणा में कोई अवास्तविकता नहीं है कि वेदों में विज्ञान-सम्मत तथा धार्मिक सत्य निहित हैं।

वेदों का भाष्य करने के बारे में मेरा विश्वास है कि चाहे अन्तिम पूर्ण अभिप्राय कुछ भी हो, किन्तु इस बात का श्रेय दयानन्द को ही प्राप्त होगा कि उ ने सवप्रथम वेदों की व्याख्या के लिए निर्दोष मार्ग का आविष्कार किया था। चिर-कालीन अव्यवस्था और अज्ञान-परम्परा के अन्धकार में से सूक्ष्म और मर्म भेदी दृष्टि से उसी ने सत्य को खोज निकाला था। जंगल लोगों की रचना कही जाने वाली पुस्तक के भीतर उसके धर्म पुस्तक होने का वास्तविक अनुभव उन्होंने ही किया था। ऋषि दयानन्द ने उन द्वारों की कुंजी प्राप्त की है, जो युगों से बन्द थे और उसने पटे हुए झरनों का मुख खोल दिया।

........ऋषि दयानन्द के नियम-बद्ध कार्य ही उनके आत्मिक शरीर के पुत्र हैं, जो सुन्दर सुदृढ़ और सजीव हैं तथा अपने कर्ता की प्रत्याकृति हैं। वह एक ऐसे पुरुष थे जिन्होंने स्पष्ट और पूर्ण रीति से जान लिया था कि उन्हें किस कार्य के लिए भेजा गया है।

—श्री अरविन्द घोष

★ ऋषि दयानन्द ने भारत के शक्ति शून्य शरीर में अपनी दुर्धर्ष शक्ति, अविचलता तथा सिंह-पराक्रम फूंक दिए हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती उच्चतम व्यक्तित्व के पुरुष थे। यह पुरुष-सिंह उनमें से एक था जिन्हें यूरोप प्रायः उस

समय भुला देता है जबकि वह भारत के सम्बन्ध में अपनी धारणा बनाता है। किन्तु एक दिन यूरोप को अपनी भूल मान कर उसे याद करने के लिए बाधित होना पड़ेगा, क्योंकि उसके अन्दर कर्मयोगी, विचारक और नेता के उपयुक्त प्रतिभा का दुर्लभ सम्मिश्रण था।

दयानन्द ने अस्पृश्यता व अछूतपन के अन्याय को सहन नहीं किया और उससे अधिक उनके अपहृत अधिकारों का उत्साही समर्थक दूसरा कोई नहीं हुआ। भारत में स्त्रियों की शोचनीय दशा को सुधारने में भी दयानन्द ने बड़ी उदारता व साहस से काम लिया। वास्तव में राष्ट्रीय भावना और जन-जागृति के विचार को क्रियात्मक रूप देने में सबसे अधिक प्रबल शक्ति उसी की थी। वह पुनर्निर्माण और राष्ट्र-संगठन के अत्यन्त उत्साही पैगम्बरों में से था।

—फ्रेंच लेखक रोम्यां रोलां

★ हमें वेदों के अध्ययन को प्रबल प्रोत्साहन देने और यह सिद्ध करने में कि मूर्तिपूजा वेद-सम्मत नहीं है, स्वामी दयानन्द के महान् उपकार को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। आर्यसमाज के प्रवर्तक वर्तमान जाति-भेद की मूर्खता और उसकी हानियों के विरुद्ध अपने अनुयायियों को तैयार करने के अतिरिक्त यदि और कुछ भी न करते तो भी वह वर्तमान भारत के बड़े नेता के रूप में अवश्य सन्मान पा जाते।

—जर्मन प्रोफेसर डा० विंटरनीज

★ मेरे निर्बल शब्द ऋषि की महत्ता का वर्णन करने में अशक्त हैं। ऋषि के अप्रतिम ब्रह्मचर्य, सत्य-संग्राम और घोर तपश्चर्या के लिए अपने हृदय के पूज्य भावों से प्रेरित होकर मैं उनकी वन्दना करता हूँ।

मैं ऋषि को शक्ति-सुत अर्थात् कर्मवीर योद्धा समझकर उनका आदर करता हूँ। उनका जीवन राष्ट्र-निर्माण के लिए स्फूर्तिदायक, बलदायक और मननीय है।

दयानन्द उत्कट देशभक्त थे, अतः मैं राष्ट्रवीर समझकर उनकी वन्दना करता हूँ।

—साधु टी० एल० वास्वानी

★ स्वामी दयानन्द निःसन्देह एक ऋषि थे। उन्होंने अपने विरोधियों द्वारा फेंके गये ईंट-पत्थरों को शान्तिपूर्वक सहन कर लिया। उन्होंने अपने में महान् भूत और महान् भविष्य को मिला दिया। वह मर कर भी अमर हैं। ऋषि का प्रादुर्भाव लोगों को कारागार से मुक्त करने और जाति-बन्धन तोड़ने के लिए हुआ था। ऋषि का आदेश है—आर्यावर्त, उठ जाग; समय आ गया है, नये युग में प्रवेश कर, आगे बढ़।

—पाल-रिचर्ड (प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक)

★ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दू-धर्मके सुधार का बड़ा कार्य किया, और जहां तक समाज-सुधार का सम्बन्ध है, वह बड़े उदार-हृदय थे। वे अपने विचारों को वेदों पर आधारित और उन्हें ऋषियों के ज्ञान पर अवलम्बित मानते थे। उन्होंने

वेदों पर बड़े बड़े भाष्य किये, जिससे मालूम होता है कि वे पूर्ण अभिज्ञ थे। उनका स्वाध्याय बड़ा व्यापक था।

—प्रो० एफ० मैक्समूलर

★ स्वामी दयानन्द के सिद्धान्त उनके सत्यार्थप्रकाश में निहित हैं। यही सिद्धान्त वेदभाष्य-भूमिका में हैं। स्वामी दयानन्द एक धार्मिक सुधारक थे। उन्होंने मूर्तिपूजा से अविराम युद्ध किया।

—सर वेलएटाइन चिरौल

★ आर्यसमाज समस्त संसार को वेदानुयायी बनाने का स्वप्न देखता है। स्वामी दयानन्द ने इसे जीवन और सिद्धान्त दिया। उनका विश्वास था कि आर्य जाति चुनी हुई जाति, भारत चुना हुआ देश और वेद चुनी हुई धार्मिक पुस्तक है ... ...।"

—ब्रिटेन के (स्व०) प्रधानमंत्री रेमजे मैकडानल्ड

★ स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुयायी उन्हें देवता-तुल्य जानते थे, और वह निस्सन्देह इसी योग्य थे। वह इतने विद्वान् और अच्छे आदमी थे कि वे प्रत्येक धर्म के अनुयायियों के लिए सम्मान-पात्र थे। उनके समान व्यक्ति समूचे भारत में इस समय कोई नहीं मिल सकता। अतः प्रत्येक व्यक्ति का उनकी मृत्यु पर शोक करना स्वाभाविक है।

—सर सैयद अहमदखां

★ मेरी सम्मति में स्वामी दयानन्द एक सच्चे 'जगत् गुरु' और सुधारक थे। —मि० फौक्स पिट्
(जनरल सेक्रेटरी मोरल एजूकेशन लीग लण्डन)

★ स्वामी दयानन्द सरस्वती उन महापुरुषों में से थे, जिन्होंने आधुनिक भारत का निर्माण किया और जो उसके आचार-सम्बन्धी पुनरुत्थान तथा धार्मिक पुनरुद्धार के उत्तरदाता हैं। हिन्दू-समाज का उद्धार करने में आर्यसमाज का बहुत बड़ा हाथ है। रामकृष्ण मिशन ने बंगाल में जो कुछ किया, उससे कहीं अधिक आर्यसमाज ने पंजाब और संयुक्तप्रान्त में किया। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि पंजाब का प्रत्येक नेता आर्यसमाजी है। स्वामी दयानन्द को मैं एक धार्मिक और सामाजिक सुधारक तथा कर्मयोगी मानता हूँ। संगठन-कार्यों के सामर्थ्य और प्रसार की दृष्टि से आर्यसमाज अनुपम संस्था है।

—श्री सुभाषचन्द्र बोस

★ उनकी मृत्यु से भारत माता ने अपने योग्यतम पुत्रों में से एक को खो दिया। —कर्नल अलकाट
(थियासोफिकल सोसायटी के प्रेसीडेन्ट)

★ स्वामी दयानन्द सरस्वती राष्ट्रीयता, सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से भारत का एकीकरण चाहते थे। भारत-वासियों को राष्ट्रीयता के सूत्र में ग्रथित करने के लिए उन्होंने देश को विदेशी दासता से मुक्त करना आवश्यक समझा था।...

—श्री रामानन्द चटर्जी (सम्पादक 'माडर्न रिव्यू')

★ जब भारत के उत्थान का इतिहास लिखा जायेगा तो नंगे फकीर दयानन्द सरस्वती को उच्चासन पर बिठाया जायेगा।

—सर यदुनाथ सरकार

★ स्वामी दयानन्द मेरे गुरु हैं, मैंने संसार में केवल उन्हीं को गुरु माना है। वह मेरे धर्म के पिता हैं और आर्यसमाज मेरी धर्म की माता है। इन दोनों की गोद में मैं पला। मुझे इस बात का गर्व है कि मेरे गुरु ने मुझे स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करना, बोलना और कर्तव्य-पालन करना सिखाया तथा मेरी माता ने मुझे एक संस्था में बद्ध होकर नियमानुवर्तिता का पाठ दिया।

—पंजाब केसरी ला० लाजपतराय

★ स्वामी दयानन्द के उच्च व्यक्तित्व और चरित्र के विषय में निस्सन्देह सर्वत्र प्रशंसा की जा सकती है। वे सर्वथा पवित्र तथा अपने सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करने वाले महानुभाव थे। वह सत्य के अत्यधिक प्रेमी थे।

—रेवरेण्ड सी. एफ. एण्डरूज

★ इसका श्रेय केवल स्वामी दयानन्द को ही है कि हिन्दू लोग आधी शताब्दि में ही रूढ़िवाद और पौराणिक देवी-देवताओं की पूजा छोड़ कर एक अत्यन्त शुद्ध ईश्वरवाद को मानने लगे हैं।

—प्रिन्सिपल एस. के. रुद्र

★ महर्षि दयानन्द ने भारत और संसार मात्र की जो सेवा की है, उसे मैं भली भांति जानता हूँ। वह भारतवर्ष के सर्वोत्तम महापुरुषों में से थे। स्वामीजी ने मातृभूमि की सब से बड़ी सेवा यह की है कि उसमें जातीय शिक्षा का विचार पैदा कर दिया है।

—श्री जी. एस. अरुण्डेल

★ ऋषि दयानन्द ने हिन्दू समाज के पुनरुत्थान में इतना अधिक हाथ बटाया है कि उन्हें १६ वीं शताब्दी का प्रमुखतम हिन्दू समझा जायेगा।

—श्री तारकनाथ दास एम० ए०
पी० एच० डी० (म्यूनिच)

★ स्वामी दयानन्द भारतवर्ष के उन धार्मिक महापुरुषों में से एक हैं, जिनका गुणानुवाद करने में ही जीवन समाप्त हो सकता है।

उन्होंने मन, वचन और कर्म की स्वतन्त्रता का सन्देश दिया तथा मानव मात्र की समानता का उपदेश दिया। वह अपने जीवन और मृत्यु में महान् ही रहे।

—श्रीमती सरलादेवी चौधरानी

★ महर्षि दयानन्द भारत-माता के उन प्रसिद्ध और उच्च आत्माओं में से थे जिनका नाम संसार के इतिहास में सदैव चमकते हुए सितारों की तरह प्रकाशित रहेगा। वह भारत-माता के उन सपूतों में से हैं, जिनके व्यक्तित्व पर जितना भी अभिमान किया जाय थोड़ा है। नैपोलियन और

सिकन्दर जैसे अनेक सम्राट् एवं विजेता संसार में हो चुके हैं; परन्तु स्वामी उन सबसे बढ़ कर थे।

—खदीजा बेगम एम० ए०

★ ईसाइयत और पश्चिमी सभ्यता के मुख्य हमले से हिन्दुस्तानियों को सावधान करने का सेहरा यदि किसी व्यक्ति के सिर बांधने का सौभाग्य प्राप्त हो तो स्वामी दयानन्दजी की ओर इशारा किया जा सकता है। १९वीं सदी में स्वामी दयानन्दजी ने भारत के लिए जो अमूल्य काम किया है, उससे हिन्दू जाति के साथ-साथ मुसलमानों तथा दूसरे धर्मावलम्बियों को भी बहुत लाभ पहुँचा है।

—पीर मुहम्मद यूनिस

★ स्वामी दयानन्द ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने "हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों के लिए" का नारा लगाया था। ....आर्य-समाज के लिए मेरे हृदय में शुभ इच्छाएं हैं और उस महान् पुरुष के लिए, जिसका आप आर्य आदर करते हैं, मेरे हृदय में सच्ची पूजा की भावना है।

—श्रीमती एनी बीसेण्ट

★ स्वामी दयानन्दजी पर संकीर्णता का दोष लगाना भ्रमात्मक और मिथ्या है। ....उनकी शिक्षाओं का प्रमुख लक्ष्य एकता रहा और इस्लाम का आतंक हिन्दुओं को जाति-भेद की उपेक्षा करके संगठित होने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ। उनके प्रयत्नों से आर्य या हिन्दू एक जाति और वेदों का आदर्श पारस्परिक एकसूत्रता के साधन बन गये।

—श्री नृसिंह चिन्तामणि केलकर

बीसवां परिच्छेद

'सत्यार्थप्रकाश' के प्रति श्रद्धाञ्जलियां

★ मैंने सत्यार्थप्रकाश को कम से कम १८ बार पढ़ा। जितनी बार मैं उसे पढ़ता हूँ, मुझे मन और आत्मा के लिए कुछ नवीन भोजन मिलता है। पुस्तक गूढ़ सचाइयों से भरी पड़ी है।

स्व० पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए०

★ हिन्दू जाति की ठण्डी रगों में उष्ण रक्त का संचार करने वाला यह ग्रन्थ अमर रहे, यही मेरी कामना है। 'सत्यार्थप्रकाश' की विद्यमानता में कोई विधर्मी अपने मजहब की शेखी नहीं मार सकता।

—श्री विनायक दामोदर सावरकर

★ भारत में अंग्रेजों के प्रभुत्व और पाश्चात्य शिक्षा के प्रवेश के कारण यह खतरा उत्पन्न हो गया था कि एक दिन देश का जीवन और दृष्टिकोण राष्ट्रीयता से शून्य हो जायेगा। यह भी भय हुआ कि प्रतिक्रिया के तौर पर पुरानी रूढ़ियों और कुरीतियों के प्रति उत्पन्न अन्ध-श्रद्धा राष्ट्रीय जीवन और चरित्र की उचित उन्नति को रोकने का कारण न बन जाय। जाति के जीवन की ऐसी नाजुक घड़ी में कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होकर आत्म-रक्षा का मार्ग दिखाने वाले महापुरुषों में महर्षि दयानन्द का स्थान बहुत ऊंचा है।

निस्सन्देह यह परम सन्तोष की बात है कि महर्षि के

आध्यात्मिक उत्तराधिकारी आर्यसमाज ने धर्म के क्षेत्र में अपना दरवाजा सदा खुला रखा है।

महर्षि ने अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' में देश की राजनीतिक दशा पर भी स्पष्टतया भाषा में अपना अभिमत प्रकट कर दिया है—

"........कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता माता के समान कृपा न्याय और दया के साथ भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है।" क्या हमारी राजनीतिक दासता का इससे अधिक विशद तथा साहसपूर्ण विश्लेषण सम्भव है?

.......ऋषि ने अपने देशवासियों तथा समस्त विश्व को सत्यार्थप्रकाश के रूप में जो अविनश्वर वसीयत दी है, वह उसकी प्रकाण्ड प्रतिभा का प्रतीक है। इस ग्रन्थ में वह हमारे सम्मुख एक उत्पादक कलाकार, समीक्षक, संहारक तथा निर्माता के रूप में प्रकट हुआ है।

........ऋषि ने अपने महान् दर्शन 'सत्यार्थप्रकाश' में एक ऐसे पुनर्गठित समाज का रूप उपस्थित किया है, जिसे स्वतन्त्र भारत वर्तमान परिस्थितियों तथा अवस्थाओं में स्वकीय संस्कृति तथा सभ्यता की अमूल्य परम्पराओं के साथ सम-स्वर करके ही निर्माण कर सकता है।

—श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी

★ 'सत्यार्थप्रकाश' स्वामी दयानन्द का ज्ञान-कोष है। इसमें वैदिक धर्म का सर्वथा क्रियात्मक स्वरूप वर्णित है। यह दक्षिण भारत में प्रचलित विभिन्न मतवादों और धार्मिक विश्वासों के कारण वहां अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

—(स्व०) श्री ए० रंगास्वामी आयंगर एम० एल० ए०

['हिन्दू' व 'स्वदेशमित्रन्' मद्रास के सम्पादक]

★ मैं अपनी जनता को महर्षि दयानन्द के महान् ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' पढ़ने का परामर्श दूंगा। यह उन्हें वेदों की महती और स्थायी सत्यता का ज्ञान देगा। उन्होंने स्त्रियों के अधिकारों का जैसा पक्ष ग्रहण किया है, वैसा प्रगतिशील समर्थन संसार में कहीं नहीं मिलेगा।

—(स्व०) श्री सत्यमूर्ति एम० एल० ए०

★ संसार में जितने धर्म-ग्रन्थ हैं, उनमें केवल सत्यार्थ-प्रकाश ही ऐसी पुस्तक है जिसमें सभी धर्म-मतों की निष्पक्ष आलोचना और सच्चे धर्म की मीमांसा है। पक्षपातहीन, सत्यप्रेमी धर्म-सुधारक खुले तौर से तुलनात्मक धर्म विचार करते और सब मत-मतान्तरों से सत्य का ही ग्रहण करते हैं।

......ऋषि दयानन्द ने अपने सत्यार्थप्रकाश में एक ओर तो युक्ति-प्रमाणों से वैदिक सिद्धान्त की स्थापना की और दूसरी ओर विविध मत-मतान्तरों की न्यायपूर्ण युक्तियुक्त समीक्षा भी की। तुलनात्मक और निष्पक्ष धार्मिक विचार का आदर्श ही स्वामी दयानन्द थे। सत्यार्थप्रकाश से जो लोग चिढ़ते हैं और इसके लिए आर्यसमाज को कोसते हैं वे यह भूल जाते हैं कि

यह युग तुलनात्मक विचार का ही है। सत्यार्थप्रकाश ने धार्मिक जगत् में क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। सत्यार्थप्रकाश संसार का दिग्दर्शक यन्त्र है।

—प्रो० रमेशचन्द्र बनर्जी एम० ए०

★ मेरा विश्वास है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती महान् आत्मा थे और हमारे उद्धार के लिए ही उनका जन्म हुआ था।

······ यदि कोई सत्य का प्रेमी सत्यार्थप्रकाश के उन समुल्लासों से रुष्ट हो, जिसमें स्वामीजी ने अन्तर्दृष्टि और उपयुक्त भाषा में सब धर्मों व मतों के रूढ़िवादों और अन्ध-परम्पराओं की अपने दृष्टिकोण से आलोचना की है, तो मुझे खेद होगा। कोई धर्म व समाज-सुधारक साथ-साथ कोमल और प्रभावशाली नहीं हो सकता।

—सर सीताराम

(युक्तप्रान्तीय कौंसिल के अध्यक्ष)

★ आर्यसमाजी वेदों के सच्चे अनुयायी हैं। अमेरिकन लेखिका (मिस मेयो) उनके कार्यों व उनकी लोकप्रियता को नहीं जान सकती। उसने अभी हाल में प्रकाशित उस तुलनात्मक विवेचन की पुस्तक का भी अवलोकन नहीं किया है, जो कि आज दिन शिक्षित-अशिक्षित और नगरवासी व ग्रामीण प्रत्येक हिन्दू की दृष्टि में बाइबिल की तरह पूजनीय बन गई है — वह है ऋषि दयानन्द का सत्यार्थप्रकाश।

कारागार की छड़ों के पीछे एक वर्ष तक 'सत्यार्थप्रकाश' मेरा मित्र, प्रकाशस्तम्भ और जीवन बना रहा। सत्यार्थप्रकाश में